# प्रीत और रीत

[मौलिक सामाजिक उपन्यास]

सत्यप्रसाद पाण्डेय

भोले थे तुम—
त्याग, सच्चाई और विश्वास के प्रतीक,
समर्पित तुम्हें थी 'प्रीत' !
चतुर बने तुम—
स्वार्थ, प्रपंच और अविश्वास से अभिभूत,
समर्पित तुम्हें है 'रीत' !

# लेखक की ओर से

प्रस्तुत उपन्यास बहुत पहले लिखा गया था पर इसके प्रकाशन की शीघ्र व्यवस्था नहीं होने पाई; परिणामस्वरूप पाठकों को बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी, इसका मुझे दुःख है। खैर, अब पुस्तक उनके समक्ष है। उनकी टिप्पणी प्राप्त होने पर मुझे प्रसन्नता होगी।

पुस्तक के प्रूफ देखने में कविवर श्री सोमनाथ जी शास्त्री ने मुझे जो सहायता और सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूँ और साथ ही सौ० उषा पन्त और मिस बैंस्टेन का भी, जिन्होंने मेरा मूड बनाये रखा।

८१-यू० बी०, जवाहरनगर
दिल्ली

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

# प्रकाशक की ओर से

उपन्यास लिखने के लिए आवश्यक नहीं कि आप देश-देशान्तर का पर्यटन करें अथवा इतिहास के पृष्ठों को टटोलें कि आपको कुछ सामग्री मिले। यह भी आवश्यक नहीं कि आपके अन्दर विद्वत्ता हो अथवा आपकी लेखनी में चमत्कार। आवश्यकता है केवल इस बात की कि आपके अन्दर हृदय हो जो किसी की अनुभूतियों का स्पर्श पाकर उन्हें आत्मसात् कर सके। लेखनी फिर स्वयमेव आपका साथ देगी—मनुष्य के अन्दर से छुपे हुए अनेक सत्य स्वयं साकार होने लगेंगे क्योंकि यह तो अन्तर की निष्ठा का स्वाभाविक परिणाम है।

प्रस्तुत उपन्यास भी किसी मित्र की अनुभूतियों का स्पर्श पाकर, हृदय-मन्थन से उत्पन्न, एक ऐसी उच्च-चरित्र नारी की गाथा है जिसके प्रणय-पनघट पर दो प्यासे हिरण मृग-मरीचिका का शिकार बनते हैं और वह दोनों के साथ केवल रीत निभा पाती है, प्रीत नहीं। आप अनुमान लगायेंगे कि उनमें से एक पति होगा और दूसरा कोई पूर्व-प्रेमी। जी नहीं, यदि ऐसा होता तो मैं उसपर 'उच्च चरित्र' का विशेषण नहीं जोड़ता। जी हाँ, वे दोनों उसके पति हैं। मैं जानता हूँ कि अब आप यही कहेंगे कि यह एक विधवा-विवाह का किस्सा होगा। मुझे दुःख है कि आपकी यह धारणा भी निर्मूल है। उसके दोनों पति जीवित हैं और आश्चर्य तो यह है कि वह दोनों के साथ समान आत्मीयता रखती हुई निर्वाह करती है और फिर भी यह अवसर नहीं देती कि हम उससे घृणा करें। हाँ, आप तो विस्मित हो ही उठे, पर इसमें भला मेरा क्या दोष? मैं कैसे आपको विश्वास दूँ कि इस युग में कुछ ऐसी घटनाएँ भी देखने अथवा सुनने को मिल जा

हैं कि द्रोपदी जैसी सती-नारी के अस्तित्व को हम महज़ किंवदन्ती अथवा कल्पना समझते हुए चुटकी नहीं ले सकते। विश्वास न हो तो उपन्यास पढ़कर देख लीजिये।

—प्रकाशक

# एक

## राघव के स्वरों में

आज मैं आर० दत्त० के नाम से दिन-प्रतिदिन ख्याति अर्जित कर रहा हूँ। यदा-कदा समाचारपत्रों में भी मेरे भाषण और गतिविधियों के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। युवक समुदाय में मेरी अच्छी-खासी प्रतिष्ठा है, क्योंकि जो सिद्धान्त और कार्यक्रम डा० बड़थ्वाल के नेतृत्व में मेरे दल ने जनता के सामने रखे हैं, उनमें समाज के उग्र वर्ग को राष्ट्र के समुन्नत भविष्य की झाँकी देखने को मिली है, दलगत राजनीति के दूषित वातावरण में एक नव चेतना और स्फूर्ति प्राप्त होती है। यही कारण है कि ऐसे समस्त देशभक्त जो 'करो या मरो' का निश्चय लेकर राष्ट्र की राजनीति का संचालन चाहते हैं, हमारे दल के झण्डे के नीचे आने को लालायित हैं। यह तो डा० बड़थ्वाल द्वारा लगाये गये अंकुश का परिणाम है कि इन उग्रपन्थियों में से अधिकतर को दल की सदस्यता से वंचित ही रहना पड़ता है। हमारे दल पर डा० बड़थ्वाल का उतना ही प्रभाव है जितना कि एक तानाशाह का होता है, पर हम उन्हें तानाशाह नहीं समझते क्योंकि हमारे दल के सदस्यों के बीच उतना ही पारस्परिक सद्-भाव, सम्मान और विचार-स्वातंत्र्य विद्यमान है जितना कि किसी भी जनतान्त्रिक दल में सम्भव है। डा० बड़थ्वाल के प्रति हमारी निष्ठा वर्षों के प्रशिक्षण से प्राप्त अनुशासन, मर्यादा और संस्कारों से प्रभावित उस भावना की परिचायक है जो हमें गुरुजनों के समक्ष नतमस्तक सज्जनों के प्रति आदर और निष्ठावानों के प्रति अटूट स्वामिभक्त बनकर रहने

ी प्रेरणा देती है। हमारे दल द्वारा परिपोषित सिद्धान्तों में इसी लिये ा० वड़थ्वाल के विचारों की गहरी छाप है। सच तो यह है कि दल के ार्यक्रम का सृजन डा० वड़थ्वाल के चिन्तन का ही एक मात्र परिणाम है। डा० वड़थ्वाल की धारणा है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद जनता का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हुआ है तो दो बातों की ओर, एक दलगत राजनीति की ओर और दूसरे उन्मुक्त प्रणयलीला की ओर। राष्ट्र का नागरिक आज संस्कार, दृष्टिकोण और विचार, जिन पर कि उसका व्यक्तित्व खड़ा होता है, अपनी जननी, अध्यापक और दार्शनिकों से नहीं, अपितु राजनीतिज्ञों और अभिनेताओं से ग्रहण कर रहा है, और इसी लिये उसका चरित्र अस्थिर और कृत्रिम, विचार असन्तुलित और खोखले तथा दृष्टकोण संकुचित, स्वार्थलोलुप एवं अनुदार पाया जाता है। डा० वड़थ्वाल की धारणा निर्मूल नहीं है, क्योंकि लोक-जीवन में आज चर्चा ही केवल दो वर्ग के व्यक्तियों की सुनाई देती है—काम करने के समय राजनीतिज्ञों की, और फुरसत के समय अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की। छात्र हो अथवा अध्यापक, सरकारी कर्मचारी हो अथवा व्यापारी, प्रत्येक की रग-रग में राजनीति समाई हुई है। यहाँ तक कि खेल और खिलाड़ी भी उसके दुष्प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। निजी जीवन का अधिकांश, चलचित्रों में प्रदर्शित प्रणय-लीलाओं से प्रभावित है। पति पत्नी से अभिनेत्रियों की अदा चाहता है। युवतियाँ गुणी और शालीन व्यक्तित्व की उपेक्षा कर शोख और आवारा पतियों की खोज करती हैं। यह अतिशयोक्ति नहीं कि बच्चा माँ के गर्भ से अवतरित होने पर रुदन करता है तो उसमें भी चित्रपट का संगीत सुनाई देता है, किशोर की अठखेलियाँ और युवक की क्रीड़ाओं की तो बात ही अलग है। डा० वड़थ्वाल की धारणा रही है कि राष्ट्र को इस खंदक में से निकालने के लिये जो भी कार्यक्रम अपनाया जाये, उसकी सफलता तभी सुनिश्चित हो सकती है जब उस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिये सही अर्थों में जन-शक्ति संचित की जाये। इसी लिये दल के कार्यक्रम में उन्होंने राष्ट्र के चरित्र-निर्माण को

प्राथमिकता दी है। दल की सदस्यता के लिये कुछ ऐसी व्यावहारिक कसौटियाँ निर्धारित की गई हैं कि साधारण चरित्र के व्यक्तियों को उन पर खरा निकलना वर्षों तक सम्भव नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि मेरे अन्दर चरित्र की कौन सी विशेषता लक्ष्य कर डा० बड़थ्वाल ने उस विक्षिप्त हालत में मुझे दल का आश्रय ही नहीं दिया अपितु शनैः शनैः मेरे ऊपर अपने विश्वास का इतना भार लाद दिया कि आज राष्ट्र मुझे उनका दाहिना हाथ समझने लगा है। सम्भवतः दीन परिस्थितियाँ ही मनुष्य के चरित्र में निखार लाती हैं, तभी तो उस दीन-हीन अवस्था में मुलाकात होने पर डा० बड़थ्वाल मेरे शब्दों से अकस्मात् बुरी तरह घायल हुए थे। मुझे याद है कि जब व्यथित और विरक्त मन लिये घूमते-घूमते विज्ञापन में उल्लिखित पर्वत-शृंखलाओं से घिरी हुई इस सुरम्य वनस्थली में पहुँच कर मैंने डा० बड़थ्वाल को नौकरी के लिये आवेदन-पत्र दिया था, तो प्रश्न करने से पूर्व ही मेरे स्वर ने उन्हें मुग्ध-सा कर दिया था।

"आजीविका पाकर मुझे आत्मचिन्तन की छूट तो होगी?" मैंने नम्र शब्दों में शंका प्रकट की थी।

"क्या मतलब?" आश्चर्य से डा० बड़थ्वाल बोले थे।

"आपने आश्रम की आजीवन सेवा का अनुबन्ध विज्ञापित किया है।"

"मैं सेवा के लिये तो प्रस्तुत हूँ, पर दासता को स्वीकार नहीं कर पाऊँगा।"

डा० बड़थ्वाल के होंठों में मेरा उत्तर सुनने पर एक ऐसी मुस्कान नाच उठी, जो बच्चों की उत्साहपूर्ण बातें सुनकर एक अनुभवी व्यक्ति को कौतूहलवश आ जाती है।

"पर बिना आत्मा का योग दिये तुम सेवा कर पाओगे, यह कैसे सम्भव है? यह तो छल होगा—सेवा नहीं।"

मैं पहले तो कुछ खिसिया-सा गया था पर फिर विश्वासपूर्वक बोला, "छल नहीं, आश्रम के लिये अन्न-वस्त्र का ऋण चुकाऊँगा। समझ लीजिये कि ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भीष्म और द्रोण ने कौरवों का ऋण

चुकाया था।......"

कहते-कहते मैं हंस पड़ा पर डा० वड़थ्वाल चकित थे। उन्होंने प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी थी। मुझसे मेरा पूर्व परिचय पूछा—मन की उद्विग्न अवस्था का कारण जानना चाहा, पर मैं मौन ही रहा। बताता भी क्या? डा० वड़थ्वाल असमंजस में थे। पूर्व परिचय जाने बिना आश्रम की सेवा के लिये नियुक्त करना सम्भव नहीं था, पर यह अज्ञात धारणा कि मैं नियुक्ति के लिये सर्वथा एक उपयुक्त व्यक्ति था, उनके अन्दर स्थान बनाती गई, कुछ दिन तक उन्होंने मुझे अतिथि के रूप में आश्रम में रखा और वहाँ की समस्त गतिविधियों से परिचित कराया—शायद इस आशा में कि आश्रम के वातावरण से प्रभावित होकर मैं उस व्यवधान को हटा दूँ, जो मेरा परिचय रोके हुए था, पर मैंने फिर भी कृपणता बरती और आज तक उसी कृपणता के कारण मैं डा० वड़थ्वाल के लिये रहस्य ही बना हुआ हूं। उन्होंने उस समय मुझ पर विश्वास कर आश्रम में स्थान दे दिया और शायद मेरी हठ के समक्ष पराजय स्वीकार कर नियुक्ति के बाद फिर कभी मेरा पूर्व इतिहास जानने की इच्छा व्यक्त नहीं की। अब मुझे बोध होता है कि मेरी हठ का इतना मूल्य नहीं था कि मैं डा० वड़थ्वाल के विश्वास की उपेक्षा करता गया—अपनी हठ के समक्ष उनके विश्वास का मूल्यांकन न कर पाया। मेरे अन्दर विशेषतः पिछले पाँच-छः महीनों से एक हलचल मची हुई है, जबसे निरन्तर समाचार-पत्रों में वेला की गतिविधियों का उल्लेख हो रहा है। इस हठ का शायद डा० वड़थ्वाल को भी आभास है, पर यह सोचना कि मुझसे वह इस विषय पर बातचीत करेंगे, कोरी कल्पना है। डा० वड़थ्वाल दृढ़ चरित्र के व्यक्ति हैं। जिस रहस्य को मैंने गत १२-१४ सालों से उनसे गुप्त ही रखा, उसे प्रकट करने का वह मुझ से भला आग्रह ही क्यों करेंगे! चाहे वह यह महसूस भी करने लगे हों कि मैं इस रहस्य को उनके समक्ष प्रकट करने के लिये अब एक प्रकार से बेचैन हूं। आज से १२-१४ साल पूर्व जब मैं आश्रम में नियुक्त हुआ था, तब मैं हड्डियों का ढांचा भर था। गाल पीले और पिचके हुए

थे। क्षीण काया और कलेजे पर चिरपोषित वेदना के गहरे-गहरे दाग। ३० साल का युवक होते हुए भी, ममता या मानो बुढ़ापे के सूने खलिहान पर रख दिया गया था। पर आज मेरा शरीर गठा हुआ और स्वस्थ है। मुख पर कान्ति और शौर्य दीप्त है। मेरी वाणी में ओज है और जब भाषण देता हूँ तो इसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिलती हैं कि मेरे शब्दों की गूँज से पहाड़ों की कन्दराएँ गूंज उठती हैं, पुरुषों के नथुने फूल उठते हैं और माताओं के स्तनों से दूध की धार फूट पड़ती है। ये सब श्रोताओं द्वारा दी गई उपमाएँ हैं, जिनमें अतिशयोक्ति हो सकती है, पर सार न हो, यह मैं नहीं मान सकता। समाचारपत्र मुझे तरुण नेता के रूप में जनता के समक्ष ला रहे हैं। मेरे भाषणों के साथ मेरे रूप और यौवन की भी चर्चा होती है। बल्कि ऐसे भी अवसर आये हैं कि मुझे कभी-कभी लज्जित भी होना पड़ा है। सोचता हूँ कि काश ! मेरी आयु ६५-७० साल की होती, ताकि उन कष्टमय क्षणों से बच पाता, जो कभी मेरे इस लोक-जीवन को ग्रसित करने आते हैं। डा० बड़थ्वाल को उन समस्त घटनाओं की जानकारी है जो मेरे साथ घटी हैं। एक महिला पत्रकार ने तो स्वयं डा० बड़थ्वाल के समक्ष मुझ से प्रणय-प्रस्ताव तक रखने में संकोच न किया, पर मैंने इतनी शालीनता के साथ उसके आग्रह को ठुकरा दिया था कि मेरा चरित्र और विवेक एकबार और डा० बड़थ्वाल की दृष्टि में ऊँचा उठ गया। जो प्रेम-पत्र मेरी डाक में कभी-कभी आते, उनकी चर्चा कर डा० बड़थ्वाल खूब विनोद करते। ऐसा अवसर कभी नहीं आया कि उनका विनोद संदेह में परिणत हो उठा हो। अब कह नहीं सकता कि वेला से संबंधित समाचारों को पढ़ कर और उन समाचारों के प्रति मुझे विशेष रूप से आकृष्ट पाकर डा० बड़थ्वाल की क्या प्रतिक्रिया हो। खैर कुछ भी हो, शारीरिक और मानसिक, दोनों दृष्टियों से मेरे अन्दर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया है। देह में यौवन तैरता हुआ प्रतीत होता है, और मन एक निश्चित मंजिल पर आकर स्थिर हो उठा है। स्वस्थ तन और पुष्ट मन बुद्धि को कुशाग्र बनाने की क्रिया में

चुकाया था।……"

कहते-कहते मैं हँस पड़ा पर डा० वड़थ्वाल चकित थे। उन्होंने प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी थी। मुझसे मेरा पूर्व परिचय पूछा—मन कीं उद्विग्न अवस्था का कारण जानना चाहा, पर मैं मौन ही रहा। वताता भी क्या ? डा० वड़थ्वाल असमंजस में थे। पूर्व परिचय जाने विना आश्रम की सेवा के लिये नियुक्त करना सम्भव नहीं था, पर यह अज्ञात धारणा कि मैं नियुक्ति के लिये सर्वथा एक उपयुक्त व्यक्ति था, उनके अन्दर स्थान वनाती गई, कुछ दिन तक उन्होंने मुझे अतिथि के रूप में आश्रम में रखा और वहाँ की समस्त गतिविधियों से परिचित कराया—शायद इस आशा में कि आश्रम के वातावरण से प्रभावित होकर मैं उस व्यवधान को हटा दूँ, जो मेरा परिचय रोके हुए था, पर मैंने फिर भी कृपणता वरती और आज तक उसी कृपणता के कारण मैं डा० वड़थ्वाल के लिये रहस्य ही वना हुआ हूँ। उन्होंने उस समय मुझ पर विश्वास कर आश्रम में स्थान दे दिया और शायद मेरी हठ के समक्ष पराजय स्वीकार कर नियुक्ति के बाद फिर कभी मेरा पूर्व इतिहास जानने की इच्छा व्यक्त नहीं की। अब मुझे बोध होता है कि मेरी हठ का इतना मूल्य नहीं था कि मैं डा० वड़थ्वाल के विश्वास की उपेक्षा करता गया—अपनी हठ के समक्ष उनके विश्वास का मूल्यांकन न कर पाया। मेरे अन्दर विशेषतः पिछले पाँच-छः महीनों से एक हलचल मची हुई है, जबसे निरन्तर समाचार-पत्रों में वेला की गतिविधियों का उल्लेख हो रहा है। इस हठ का शायद डा० वड़थ्वाल को भी आभास है, पर यह सोचना कि मुझसे वह इस विषय पर वातचीत करेंगे, कोरी कल्पना है। डा० वड़थ्वाल दृढ़ चरित्र के व्यक्ति हैं। जिस रहस्य को मैंने गत १२-१४ सालों से उनसे गुप्त ही रखा, उसे प्रकट क[illegible] का वह मुझ से भला आग्रह ही क्यों करेंगे ! चाहे वह यह महसूस भी लगे हों कि मैं इस रहस्य को उनके समक्ष प्रकट करने के लिये प्रकार से बेचैन हूँ। आज से १२-१४ साल पूर्व जब मैं आश्रम हुआ था, तब मैं हड्डियों का ढाँचा भर था। गाल पीले और

थे। क्षीण काया और कलेजे पर चिरपोषित वेदना के गहरे-गहरे दाग। ३० साल का युवक होते हुए भी, लगता था मानो बुढ़ापे के सूने खलिहान पर रख दिया गया था। पर आज मेरा शरीर गठा हुआ और स्वस्थ है। मुख पर कान्ति और धैर्य दीप्त है। मेरी वाणी में ओज है और जब भाषण देता हूँ तो इसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिलती हैं कि मेरे शब्दों की गूँज से पहाड़ों की कन्दराएँ गूँज उठती हैं, युवकों के नथुने फूल उठते हैं और माताओं के स्तनों से दूध की धार फूट पड़ती है। ये सब श्रोताओं द्वारा दी गई उपमाएँ हैं, जिनमें अतिशयोक्ति हो सकती है, पर सार न हो, यह मैं नहीं मान सकता। समाचारपत्र मुझे तरुण नेता के रूप में जनता के समक्ष ला रहे हैं। मेरे भाषणों के साथ मेरे रूप और यौवन की भी चर्चा होती है। बल्कि ऐसे भी अवसर आये हैं कि मुझे कभी-कभी लज्जित भी होना पड़ा है। सोचता हूँ कि काश ! मेरी आयु ६५-७० साल की होती, ताकि उन कष्टमय क्षणों से बच पाता, जो कभी मेरे इस सौन्दर्य-यौवन को ग्रसित करने आते हैं। डा० बड़थ्वाल को उन समस्त घटनाओं की जानकारी है जो मेरे साथ घटी हैं। एक महिला पत्रकार ने तो स्वयं डा० बड़थ्वाल के समक्ष मुझ से प्रथम-प्रस्ताव तक रखने में संकोच न किया, पर मैंने इतनी शालीनता के साथ उसके आग्रह को ठुकरा दिया था कि मेरा चरित्र और विवेक एक बार और डा० बड़थ्वाल की दृष्टि में ऊँचा उठ गया। जो प्रेम-पत्र मेरी डाक में कभी-कभी आते, उनकी चर्चा कर डा० बड़थ्वाल खूब विनोद करते। ऐसा अवसर कभी नहीं आया कि उनका विनोद संदेह में परिणत हो उठा हो। अब कह नहीं सकता कि बेला से संबंधित समाचारों को पढ़ कर और उन समाचारों के प्रति मुझे विशेष रूप से आकृष्ट पाकर डा० बड़थ्वाल की क्या प्रतिक्रिया हो। खैर कुछ भी हो, शारीरिक और मानसिक, दोनों दृष्टियों से मेरे अन्दर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया है। देह में यौवन तैरता हुआ प्रतीत होता है, और मन एक निश्चित मंजिल पर आकर स्थिर हो उठा है। स्वस्थ तन और पुष्ट मन बुद्धि को कुशाग्र बनाने की क्रिया में

संलग्न है। अब मैं क्रान्तिकारी नेता आर० दत्त हूँ—बारह, चौदह वर्ष पूर्व का विचारों में लीन, एकान्त पसन्द करने वाला, जिन्दगी की दौड़ में हारा-थका राघव नहीं। आज मैं जिन्दगी को सँवारने की प्रेरणा देता हूँ, मृत्यु को निमन्त्रण नहीं देता। आज भी उन क्षणों को याद कर अनायास ही, आँखों में सावन मँडराने लगता है। आज से सालों पूर्व का जीवन, जब कि इरा भी पैदा नहीं हुई थी, तब मैं मन की पीड़ा को लेखनी द्वारा कागज पर उतारा करता था। लेखक के नाम से मेरी कोई ख्याति नहीं हुई थी, पर अनुमान लगाता हूँ, कि चूँकि मेरे लेख आत्म-अनुभूति लेकर चलते थे, अवश्यमेव हृदय-स्पर्शी होते होंगे। तभी तो बेला उन्हें पढ़कर आत्म-विस्मृत हो उठती थी। मुझे याद है कि एक दिन कुछ लिख रहा था कि मीठा-सा स्वर कानों में पड़ा और एक मृदु-सा स्पर्श मैंने अपने सिर पर अनुभव किया। सिर उठाया तो देखा कि बालों को सहलाती हुई पीठ पीछे खड़ी बेला मुस्करा रही थी। उसके बिखरे हुए अलकों से जलकण टपक रहे थे। मुख पर रक्तिम आभा और शरीर पर बारीक श्वेत साड़ी के परिधान से अलंकृत थी। मेरे लिये अनुमान लगाना आसान था कि बेला स्नान कर चली आ रही थी।

"बताओ न, क्या लिख रहे हो ?" मुस्कराती हुई बोली थी वह।

"सौंदर्य चित्रित कर रहा हूँ।" पेन मेज पर रख कुर्सी से खड़ा होता हुआ मैं बोला था।

"बैठे रहिये—।" मेरे कन्धों को दबाती हुई वह बोली थी।

"सौंदर्य नारी का या······?" लज्जा से वह वाक्य पूरा न कर पाई थी।

"नारी के सौंदर्य को अब चित्रित करने की आवश्यकता कहाँ है, उसे तो वन्दी बना चुका हूँ। तृष्णा अप्राप्य की रहती है।" मेरा प्रत्युत्तर था।

"यानी···?"

"मन के सौन्दर्य को चित्रित कर रहा हूँ।"

बेला पास ही की कुर्सी पर बैठती हुई मुस्कान को मृदुल हँसी में परिणत कर बोली, "इस तृष्णा का आभार पा सकती हूँ ?"

मैं कुछ देर आँखें मूँद कर चुप रहा, फिर मेज पर रखा हुआ कागज हाथ में लेता हुआ बोला, "तुम्हें सुनाने में ही तो मेरी रचनाओं की सार्थकता है। तुलसीदास जी ने लिखा है कि 'जस बिन मीन, नदी बिन वारी, ऐसे हि नाथ पती बिन नारी।' इन पंक्तियों में पति की अनिवार्यता तो प्रतिलक्षित होती है, पर नारी के अतिरिक्त भावनाओं का विश्लेषण नहीं मिलता। तुम्हारा क्या विचार है ?"

बेला मौन थी। उसके अधरों की मुस्कान तो ज्यों की त्यों बनी रही पर मेरे शब्द जैसे उसकी अन्दर की किसी व्यथा का कहीं स्पर्श कर गये थे। उसकी दृष्टि एक टक मुझ पर केन्द्रित थी, मानो वह दृष्टि मेरे अन्तर को चीर कर उन विचारों का सूत्र ढूँढने के लिये प्रयत्नशील थी, जिनके चिन्तन या प्रवाह में बह कर मैंने ये शब्द कहे थे। वह उसी मृदु मुस्कान को लिये मुझे देखती ही गई। मैं फिर बोला, "सहमत हो बेला मेरे विचारों से ?"

बेला मेरी गोद में अपना सिर रख, मेरे हाथ की एक उँगली को दाँतों के बीच हल्के से दबाती हुई बोली, "तुलसीदास जी पुरुष थे। इसके अतिरिक्त क्या कहते ! नारी से पूछो तो तुम्हें सही उत्तर मिले।"

बेला के अलकों के सौरभ को उसाँसों से नासिका में भरते हुए मैं बोला, "तुम्हीं बताओ।"

"बताऊँ ?"

"हाँ, संकोच किस बात का ?"

बेला ने मेरी गोद से सिर उठा लिया और अबोध बालिका के से स्वर में बोली, "पहले यह आश्वासन दो कि उत्तर सुनने के पश्चात् मैं आप की नजरों में कहीं ऊँची न उठ जाऊँ।"

"क्या मतलब ?" विमूढ़-सा हो उठा मैं।

तनिक और चपल स्वर में बोली बेला, "ठीक कह रही हूँ। नहीं तो

संलग्न है। अब मैं क्रान्तिकारी नेता आर० दत्त हूँ—बारह, चौदह वर्ष पूर्व का विचारों में लीन, एकान्त पसन्द करने वाला, जिन्दगी की दौड़ में हारा-थका राघव नहीं। आज मैं जिन्दगी को सँवारने की प्रेरणा देता हूँ, मृत्यु को निमन्त्रण नहीं देता। आज भी उन क्षणों को याद कर अनायास ही, आँखों में सावन मँडराने लगता है। आज से सालों पूर्व का जीवन, जब कि इरा भी पैदा नहीं हुई थी, तब मैं मन की पीड़ा को लेखनी द्वारा कागज पर उतारा करता था। लेखक के नाम से मेरी कोई ख्याति नहीं हुई थी, पर अनुमान लगाता हूँ, कि चूंकि मेरे लेख आत्म-अनुभूति लेकर चलते थे, अवश्यमेव हृदय-स्पर्शी होते होंगे। तभी तो वेला उन्हें पढ़कर आत्म-विस्मृत हो उठती थी। मुझे याद है कि एक दिन कुछ लिख रहा था कि मीठा-सा स्वर कानों में पड़ा और एक मृदु-सा स्पर्श मैंने अपने सिर पर अनुभव किया। सिर उठाया तो देखा कि बालों को सहलाती हुई पीठ पीछे खड़ी वेला मुस्करा रही थी। उसके बिखरे हुए अलकों से जलकण टपक रहे थे। मुख पर रक्तिम आभा और शरीर पर बारीक श्वेत साड़ी के परिधान से अलंकृत थी। मेरे लिये अनुमान लगाना आसान था कि वेला स्नान कर चली आ रही थी।

"बताओ न, क्या लिख रहे हो ?" मुस्कराती हुई बोली थी वह।

"सौंदर्य चित्रित कर रहा हूँ।" पेन मेज पर रख कुर्सी से खड़ा होता हुआ मैं बोला था।

"बैठे रहिये—।" मेरे कन्धों को दबाती हुई वह बोली थी।

"सौंदर्य नारी का या······?" लज्जा से वह वाक्य पूरा न कर पाई थी।

"नारी के सौंदर्य को अब चित्रित करने की आवश्यकता कहाँ है, उसे तो बन्दी बना चुका हूँ। तृष्णा अप्राप्य की रहती है।" मेरा प्रत्युत्तर था।

"यानी···?"

"मन के सौन्दर्य को चित्रित कर रहा हूँ।"

बेला पास ही की कुर्सी पर बैठती हुई मुस्कान को मृदुल हँसी में परिणत कर बोली, "इस तृष्णा का आभास पा सकती हूँ ?"

मैं कुछ देर आँखें मूँद कर चुप रहा, फिर मेज पर रखा हुआ कागज हाथ में लेता हुआ बोला, "तुम्हें सुनाने में ही तो मेरी रचनाओं की सार्थकता है। तुलसीदास जी ने लिखा है कि 'जल बिन मीन, नदी बिन वारी, ऐसे हि नाथ पती बिन नारी।' इन पंक्तियों में पति की अनिवार्यता तो प्रतिलक्षित होती है, पर नारी के अतिरिक्त भावनाओं का विश्लेषण नहीं मिलता। तुम्हारा क्या विचार है ?"

बेला मौन थी। उसके अधरों की मुस्कान तो ज्यों की त्यों बनी रही पर मेरे शब्द जैसे उसकी अन्दर की किसी व्यथा का कहीं स्पर्श कर गये थे। उसकी दृष्टि एक टक मुझ पर केन्द्रित थी, मानो वह दृष्टि मेरे अन्तर को चीर कर उन विचारों का मूल ढूंढने के लिये प्रयत्नशील थी, जिनके चिन्तन या प्रवाह में बह कर मैंने ये शब्द कहे थे। वह उसी मृदु मुस्कान को लिये मुझे देखती ही गई। मैं फिर बोला, "सहमत हो बेला मेरे विचारों से ?"

बेला मेरी गोद में अपना सिर रख, मेरे हाथ की एक उँगली को दाँतों के बीच हल्के से दबाती हुई बोली, "तुलसीदास जी पुरुष थे। इसके अतिरिक्त क्या कहते ! नारी से पूछो तो तुम्हें सही उत्तर मिले।"

बेला के अलकों के सौरभ को उसाँसों से नासिका में भरते हुए मैं बोला, "तुम्हीं बताओ !"

"बताऊँ ?"

"हाँ, संकोच किस बात का ?"

बेला ने मेरी गोद से सिर उठा लिया और अबोध बालिका के से स्वर में बोली, "पहले यह आश्वासन दो कि उत्तर सुनने के पश्चात् मैं आप की नजरों में कहीं ऊँची न उठ जाऊँ।"

"क्या मतलब ?" विमूढ़-सा हो उठा मैं।

तनिक और चपल स्वर में बोली बेला, "ठीक कह रही हूँ। नहीं तो

रे लिये अभिशाप होगा।"

मैं वेला के शब्दों का कुछ भी अर्थ न लगा सका।

वेला ने प्यार से मेरी ठोड़ी हिलाई और बोली, "आश्वासन देते हो न, बोलो!"

मुझे उसी प्रकार निरुत्तर पा कर वेला फिर मेरी गोद में लुढ़क पड़ी और लजीले स्वर में बोली, "इतनी भाग्यहीन हूँ कि समझाने के लिए मुँह खो लूँ? तुम्हारी गोद में लेटी हुई हूँ, इसी लिये तो कि दिल की धड़कन सुनकर आप को मुझसे कुछ पूछने की आवश्यकता न रहे। बोलो, जो अविश्वास आप नारी के प्रति व्यक्त करते हैं उससे क्या मेरे प्रति अन्याय नहीं होता?"

"वेला—???" मेरी एक लम्बी उसाँस छूट पड़ी।

"पति पत्नी का शृङ्गार ही नहीं, उसका प्राण भी होता है—जीवन का आधार। आपने पति को प्रणय के प्रतीक की प्रतिष्ठा से वंचित क्यों किया?"—वेला बोली।

मूक एक टक वेला के मुख पर अंकित आन्तरिक व्यथा को लक्ष्य कर मैं विकल सा हो उठा। कुछ देर चुप वेला के अलकों को सहलाता हुआ आखिर बोला, "तुम्हें अपने दुख से दुखित करता हूँ, वेला। पर मेरी दृष्टि में तुम्हारा ऊँचा उठना अभिशाप कैसे?"

वेला पुनः मेरी गोद से सिर उठाती हुई बैठ गई और मेरी कमीज के मुड़े हुए कालरों को ठीक करती हुई गम्भीर स्वर में बोली, "डर लगता है कभी, कि मेरी लम्बी-चौड़ी बातें सुन कर कहीं तुम्हें मेरा व्यक्तित्व ही इतना बड़ा न लगने लगे कि मुझ से बात करने में तुम्हें संकोच हो जाये। 'बड़े घराने की बेटी' समझते हुए तुम पहले से ही मुझ से दूर-दूर रहते चले आ रहे हो, यदि कहीं इसी प्रकार की वक्तृताओं से मैं तुम्हें और भी बड़ी दिखने लगी, तो वह दूरी······?" वह पूरा वाक्य समाप्त न कर पाई। वेला की अन्तर्वेदना से आहत हो मैं छटपटा उठा था। वेला को अंक में भर कर कुछ देर मैं संज्ञाहीन रहा।

कुछ क्षण बाद बेला पुनः पूर्ण मुस्कान लिये बोली, "हाँ, आप मन के सौन्दर्य को चित्रित करने की बात कर रहे थे। सुनाइये नहीं अपनी रचना।"

"अजीब पुरुष-सी कल्पना की थी, बेला! भावुकता कलाकार को कितना पागल बना देती है, इसी का प्रमाण है आज की रचना।"

"टिप्पणी देना आपका काम नहीं। आप बेचैन लगते हैं। सुनाइये, क्या लिखा है?"

"बुरा तो नहीं मानोगी?"

"नहीं, गालियाँ भी दोगे, तो मैं भी मीठी मानूँगी।"

"बस, तुम्हारा अनुमान सही है।" मैं तनिक हँसा और फिर बोला, "तुम्हारे अमंगल की कामना की है आज, ताकि मन के सौन्दर्य को पोषण मिले। कितनी विकट कल्पना है!"

"छिः, आप रंग ही डालते जा रहे हैं, रूप नहीं निखार रहे," कृत्रिम झुँझलाहट प्रकट की बेला ने।

"लो, रूप भी प्रस्तुत करता हूँ। तुम रोग-शय्या पर पड़ी छटपटा रही हो। तुम्हारी समस्त देह में कीड़े रींग रहे हैं, तुम्हारा रोम-रोम सड़ रहा है और एक भयानक दुर्गन्ध से वातावरण विषाक्त हो रहा है। तुम्हारा यौवन और रूप—दोनों लोप हो जाते हैं और जिस प्रकार तेल के चुक जाने पर दीपक का अस्तित्व समाप्त हो जाता है उसी प्रकार तुम्हारी चाह से रहित हो कर तुम्हारे प्रेमी अथवा प्रशंसक तुम्हें उस सड़ते नरक में तड़पती हुई छोड़ कर चले जाते हैं। तुम कराह उठती हो, पीड़ा से उतना नहीं जितना क्षोभ से और तभी अपने सिरहाने बैठे हुए तुम मुझे पाती हो। धँसी हुई स्याह सी आँखों से तुम्हारी एक बूँद ढरकती है और तुम विमूढ़-विकल स्वर में पुकार उठती हो—'तुम—तुम प्रीत हो या रीत?'

"यह घड़ी प्रीत निभाने की भी है और रीत निभाने की भी। रीत शरीर पर कफ़न डाल कर उसे अग्नि के समर्पण करती है। पर मैं रीत निभाने नहीं

आया, प्रीत का ऋण अभी शेष है। इन कीड़ों को जो तुम्हारे शरीर को काट-काट कर तुम्हें पीड़ा पहुंचा रहे हैं, निकाल कर अपने शरीर में डालने आया हूँ, कहते हुआ मैं तुम्हारा सिर अपनी गोद में रख लेता हूँ और तुम संज्ञाहीन हो, पलक बन्द कर लेती हो। रात्रि की सुनसान घड़ियों का तुम्हें पता नहीं चलता। प्रातः पूर्व दिशा में व्योम ऊषा की लालिमा से झिल-मिला उठता है और तब जाकर कहीं तुम्हारी आंखों की पलकें खुलती हैं। प्रातः की नई मुस्कान तुम्हारे अधरों पर नर्तन कर उठती है और तुम अलसाई-सी अपने स्वस्थ तन पर दृष्टिपात करती हुई विस्तर से उठ बैठती हो। तभी नीचे फर्श पर तुम्हें पुनः कीड़ों का अम्बार दिखाई देता है। पर तब तुम्हें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मेरे रक्त का जाम पीकर उन्हें फिर होश में आने का लोभ नहीं रहता। तुम्हें फिर शायद मेरा स्मरण हो आता है और मेरी खोज में तुम्हारी नजरें चारों ओर दौड़ती हैं पर वजाय मेरे, तुम्हें एक नारी की आकृति समक्ष दिखाई देती है—तुम्हारी ही तरह मीठी मुस्कान को अधरों में सँजोये, तुम से विदा लेने को आतुर !

'विचलित न होओ, तुम्हारी अमानत मेरी गोद में विश्राम कर रही है। हाथों की चूड़ियाँ तोड़ कर तुम इन्हें मुझे सौंप दो ताकि रीत निभ जाये, मैं तुम्हारे आंचल में जीवन का माधुर्य विखेर दूँ, ताकि प्रीत निभ जाये' ये शब्द उस नारी आकृति के होते हैं। वह नारी आकृति मृत्यु होती है।"

मैंने बोलना समाप्त किया और वेला की ओर देखा, यह जानने के लिये कि कहाँ तक मेरी कल्पना उसे पसन्द आई थी। पर वेला का मुख पीला पड़ गया था। उसकी आँखें बन्द थीं।

"वेला !" मैंने उसे चेतन किया—"कैसी लगी तुम्हें मेरी कल्पना ?" पर वेला के पास कोई उत्तर न था। केवल इतना ही वह बोल पाई कि "न जाने क्यों, ऐसी बातें तुम्हारे मन में समाती जा रही हैं—, न जाने कब तुम्हारा यह चिन्तन समाप्त होगा !"

## दो

मेरी उन्हीं दिनों नई-नई शादी हुई थी। वेला के रूप में मुझे एक शिक्षित युवती पत्नी मिली थी—रूप, गुण और यौवन से भरपूर! ब्याह से कुछ पूर्व वह बी० ए० पास कर चुकी थी। मेरे ससुर आनन्दशंकर शर्मा एक प्रतिष्ठित और धनाढ्य नागरिक थे। दरियागंज में उनकी एक दो-मंजिली कोठी थी और पास-पड़ोस में अच्छी प्रतिष्ठा थी। शर्मा जी व्यापार करते थे और नगर के कितने ही व्यापार-मण्डलों के पदाधिकारी थे। घर का रहन-सहन उनका कुछ आधुनिक था और कुछ प्राचीन। प्राचीन इन मायनों में कि रसोई में वह चौकी बिछा कर भोजन करते थे। गर्मियों में भी उनके निजी कमरे में शीतलपाटी बिछी हुई पाई जाती थी और सर्दियों में रुई के मोटे-मोटे गद्दे और उन पर नवाबी ढंग से सजे मुगलकालीन गावतकिये। वेशभूषा भी उनकी हिन्दुस्तानी थी, यानी सिर पर काली टोपी और तन पर अचकन और धोती। हाँ, कभी-कभी वह बन्द गले का कोट और पैंट भी पहन लिया करते थे। भोजन बिल्कुल शाकाहारी था और घर से बाहर कुछ भी मुँह में डालना वर्जित था। राष्ट्रपति-भवन में आयोजित भोज पर वह यद्यपि कभी-कभी कॉफी और आइसक्रीम आदि भी ले लिया करते थे। शर्मा जी हिन्दी की अच्छी योग्यता रखते थे, पर अंग्रेजी बोलने या लिखने में उन्हें अपने मुनीम की सहायता लेनी पड़ती थी। वार्तालाप के दौरान, प्राय: वह अपनी इस कमी का उल्लेख कर ही दिया करते थे, पर इस उल्लेख में उनके मुख पर कभी भी झेंप या हीन भावना नहीं दिखाई दी, अपितु दिखाई देता था आत्म-विश्वास और सन्तोष। वह कहा करते थे कि अंग्रेजी पढ़े बिना ही वह इतनी सफलता प्राप्त कर गये, यदि बी० ए० पास होते तो क्या सन्देह था कि सरकार में वह वाणिज्य-मंत्री होते अथवा विदेशों में कहीं राजदूत।

आया, प्रीत का ऋण अभी शेष है। इन कीड़ों को जो तुम्हारे शरीर को काट-काट कर तुम्हें पीड़ा पहुंचा रहे हैं, निकाल कर अपने शरीर में डालने आया हूं, कहते हुआ मैं तुम्हारा सिर अपनी गोद में रख लेता हूं और तुम संज्ञाहीन हो, पलक बन्द कर लेती हो। रात्रि की सुनसान घड़ियों का तुम्हें पता नहीं चलता। प्रातः पूर्व दिशा में व्योम ऊषा की लालिमा से झिल-मिला उठता है और तब जाकर कहीं तुम्हारी आंखों की पलकें खुलती हैं। प्रातः की नई मुस्कान तुम्हारे अधरों पर नर्तन कर उठती है और तुम अलसाई-सी अपने स्वस्थ तन पर दृष्टिपात करती हुई बिस्तर से उठ बैठती हो। तभी नीचे फर्श पर तुम्हें पुनः कीड़ों का अम्बार दिखाई देता है। पर तब तुम्हें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मेरे रक्त का जाम पीकर उन्हें फिर होश में आने का लोभ नहीं रहता। तुम्हें फिर शायद मेरा स्मरण हो आता है और मेरी खोज में तुम्हारी नजरें चारों ओर दौड़ती हैं पर बजाय मेरे, तुम्हें एक नारी की आकृति समक्ष दिखाई देती है—तुम्हारी ही तरह मीठी मुस्कान को अधरों में संजोये, तुम से विदा लेने को आतुर!

'विचलित न होओ, तुम्हारी अमानत मेरी गोद में विश्राम कर रही है। हाथों की चूड़ियां तोड़ कर तुम इन्हें मुझे सौंप दो ताकि रीत निभ जाये, मैं तुम्हारे आंचल में जीवन का माधुर्य बिखेर दूं, ताकि प्रीत निभ जाये' ये शब्द उस नारी आकृति के होते हैं। वह नारी आकृति मृत्यु होती है।"

मैंने बोलना समाप्त किया और बेला की ओर देखा, यह जानने के लिये कि कहां तक मेरी कल्पना उसे पसन्द आई थी। पर बेला का मुख पीला पड़ गया था। उसकी आंखें बन्द थीं।

"बेला!" मैंने उसे चेतन किया—"कैसी लगी तुम्हें मेरी कल्पना?" पर बेला के पास कोई उत्तर न था। केवल इतना ही वह बोल पाई "न जाने क्यों, ऐसी बातें तुम्हारे मन में समाती जा रही हैं—, न जाने कब तुम्हारा यह चिन्तन समाप्त होगा!"

## दो

मेरी उन्हीं दिनों नई-नई शादी हुई थी। बेला के रूप में मुझे एक शिक्षित युवती पत्नी मिली थी—रूप, गुण और यौवन से भरपूर। ब्याह से कुछ पूर्व वह बी० ए० पास कर चुकी थी। मेरे ससुर आनन्दशंकर शर्मा एक प्रतिष्ठित और धनाढ्य नागरिक थे। दरियागंज में उनकी एक दो-मंजिली कोठी थी और पास-पड़ोस में अच्छी प्रतिष्ठा थी। शर्मा जी व्यापार करते थे और नगर के जितने ही व्यापार-मण्डलों के पदाधिकारी थे। घर का रहन-सहन उनका कुछ आधुनिक था और कुछ प्राचीन। प्राचीन इन मायनों में कि रसोई में वह पीढ़ी बिछा कर भोजन करते थे। गर्मियों में भी उनके निजी कमरे में शीतलपाटी बिछी हुई पाई जाती थी और सर्दियों में रुई के मोटे-मोटे गद्दे और उन पर नवाबी ढंग से सजे मुगलकालीन गावतकिये। वेशभूषा भी उनकी हिन्दुस्तानी थी, यानी सिर पर काली टोपी और तन पर अचकन और धोती। हाँ, कभी-कभी वह बन्द गले का कोट और पेंट भी पहन लिया करते थे। भोजन बिल्कुल शाकाहारी था और घर से बाहर कुछ भी मुँह में डालना वर्जित था। राष्ट्रपति-भवन में आयोजित भोज पर वह यद्यपि कभी-कभी कॉफी और आइसक्रीम आदि भी ले लिया करते थे। शर्मा जी हिन्दी की अच्छी योग्यता रखते थे, पर अंग्रेजी बोलने या लिखने में उन्हें अपने मुनीम की सहायता लेनी पड़ती थी। वार्तालाप के दौरान, प्रायः वह अपनी इस कमी का उल्लेख कर ही दिया करते थे, पर इस उल्लेख में उनके मुख पर कभी भी झेंप या हीन भावना नहीं दिखाई दी, अपितु दिखाई देता था आत्म-विश्वास और सन्तोष। वह कहा करते थे कि अंग्रेजी पढ़े बिना ही वह इतनी सफलता प्राप्त कर गये, यदि बी० ए० पास होते तो क्या सन्देह था कि सरकार में वह वाणिज्य-मन्त्री होते अथवा विदेशों में कहीं राजदूत।

उनके कथन में कुछ अंश तक सचाई भी थी, क्योंकि इस युग में जबकि पान बेचने वाला या ताँगा हाँकने वाला भी अंग्रेजी बोलता है, वह अंग्रेजी की विशेप योग्यता न रखते हुए, इतना बड़ा कारोबार चला रहे थे और सब प्रकार के व्यक्तियों से सम्पर्क बनाये हुए थे। उनका सम्पर्क था व्यापारियों से, उद्योगपतियों से, विधायकों और आफीसरों से, जिनमें लोकसभा के सदस्य और भारतीय प्रशासक वर्ग के चोटी के व्यक्ति भी आते थे। शर्मा जी विचारों से यद्यपि प्राचीनपंथी और अनुदार थे, पर अपने विचार और मान्यताओं को वह दूसरों पर थोपने में विश्वास नहीं रखते थे। यही कारण था कि उनकी एकमात्र सन्तान बेला अधिकांश आधुनिक रुचि ग्रहण करती जा रही थी। शर्मा जी को इस बात से तनिक भी विरोध नहीं था, क्योंकि उनका मत था कि समाज जिस सभ्यता को अपना चुका हो, उसके अनुकूल व्यक्ति विशेष का आचरण अनुचित नहीं समझा जा सकता था। अतः जहाँ एक ओर प्रातः चौके में उनका परौंठे के साथ नींबू के अचार का कलेवा होता तो दूसरी ओर अलग कमरे में नौकर डाइनिंग टेबल पर बेला को डबल रोटी के पीस, पेस्टरी और आमलेट आदि की प्लेट सजाकर चाय के साथ 'ब्रेक फास्ट' कराता। शर्मा जी पूजा-अर्चना करते हुए संस्कृत के श्लोकों का पाठ करते, तो बेला 'सीलोन-स्टेशन' से रेडियो पर फिल्मी संगीत सुनती। शर्मा जी का शौक मुख्यतः धन अर्जित करना ही था, पर बेला की रुचियों की सूची बड़ी लम्बी थी। उसमें सिनेमा, सरकस, नुमाइश, होटल, संगीत, नृत्य, उपन्यास और मैगजीन पढ़ना भी सम्मिलित था। पहली मंजिल में बैठक का जो कमरा बना हुआ था, उसकी सजावट भी बेला की रुचि के अनुसार ही की गई थी। अस्तु, शर्मा जी का परिवार आधुनिक और प्राचीन सभ्यता का संगम था, या यह कहना अधिक उचित होगा कि वे उन प्राचीनपंथियों में से थे, जिन्हें आधुनिक सभ्यता में आस्था तो न थी पर आवश्यकता अनुभव करते हुए, जो उसके अपनाये जाने के विरोधी भी नहीं थे। मेरी सास प्रातः तुलसी के पौधों को जल देतीं, पड़ोस के उद्यान में पीपल के

वृक्ष की परिक्रमा कर व्रतों और पूर्णमासी एवं एकादशी को नियमित रूप से व्रत रखतीं। वीना के जन्म-दिन पर पुरोहित उसकी टीप देखकर नवग्रहों की पूजा कर जाता एवं इसी प्रकार तीज-त्योहारों पर मेरी ससुराल वाले उन रीतों को निभाते चले आ रहे थे, जो शर्मा जी और उनकी धर्मपत्नी संस्कार-रूप में पूर्वजों से ग्रहण कर आये थे। मैं, धना-ढंगी कुलीन, शिक्षित, खूबसूरत और इतने बड़े परिवार की इकलौती कन्या को पत्नी के रूप में पाकर अपने भाग्य पर इठलाता था।

विवाह के तुरन्त पश्चात् ही केन्द्रीय सचिवालय में असिस्टेंट के पद पर मेरी नियुक्ति भी हो गई। वैसे सचिवालय में नियुक्तियाँ जनसेवा आयोग द्वारा ली गई परीक्षा के परिणामों को देखकर ही की जाती थीं, पर शर्मा जी का प्रभाव और सम्पर्क इतना व्यापक था कि मेरे लिए केन्द्रीय सचिवालय के द्वार पहुँचते ही खुल गये। मुझे नियुक्त करने का श्रेय केन्द्रीय सरकार के अवर सचिव जगदीशचन्द्र माथुर को था, जो शर्मा जी के निकटस्थ व्यक्तियों में से थे। दोनों की मैत्री करीब २५ साल से चली आ रही थी, जबकि माथुर साहब ३५ रुपये माहवार के वेतन पर क्लर्क नियुक्त हुए थे और शर्मा जी गल्ला-किराने की दूकान चलाया करते थे। सम्भवतः माथुर साहब तब शर्मा जी की दुकान से सौदा-सामान खरीद लिया करते होंगे और शर्मा जी उनसे दाल, घी, अनाज आदि के टेंडर भरने में परामर्श ले लिया करते होंगे। दोनों परिवारों के मध्य विद्यमान मैत्री और सहयोग की भावना बढ़ते-बढ़ते इतनी निकट आ गई थी कि एक-दूसरे से परामर्श लिये बिना उनका कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। शर्मा जी सनातनधर्मी ब्राह्मण थे और [illegible] [illegible] में अन्य कायस्थ लोगों की भाँति प्रारम्भ से ही [illegible] थे। इतना [illegible] होने पर भी उनके बीच आदि से ही सौहार्द बना रहा। उनके [illegible] व्यवहार में कहीं भी उच्छृंखलता और कटुता न आने पाई थी, किन्तु सहिष्णुता और आदर रखते हुए बड़ी मार्मिकता के साथ उनकी मैत्री निभती चली गई। बल्कि यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एक-दूसरे

के प्रति उनका विश्वास, आदर और स्नेह निरन्तर बढ़ता ही गया। यह सोचना भूल ही होगी कि उनके बीच मत-मतान्तर नहीं होता था या कि वे एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना रखने के कारण स्पष्ट रूप से दिल की बात करने में चूक जाते होंगे। सच तो यह है कि शर्मा जी जितना कोई न कह सके, उतना माथुर साहब को लांछित करते और माथुर साहब भी शर्मा जी की प्राचीनपंथी होने में खिल्ली उड़ाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते थे; पर उन व्यंग्य और आक्षेपों के पीछे होती थी पारस्परिक विश्वास और सौहार्द की अटूट शृंखला, जो समस्त मतभेदों पर अंकुश रखती हुई कभी भी उन्हें इतना आगे नहीं बढ़ने देती थी कि वे स्नेह और विश्वास का अतिक्रमण कर जायें। वेला को पत्नी के रूप में प्राप्त कर, लगता था मैंने भाग्य के विरुद्ध बहुत बड़ा मोर्चा जीत लिया। बिना परिश्रम किये ऐश्वर्य और वैभव मेरे चरणों को चूमने लगे थे। मुझे अब किसी भी ऐसी वस्तु का अभाव न था, जिन्हें प्राप्त करने में मेरे जैसे स्तर के व्यक्तियों को जीवन-पर्यन्त कठोर साधना करनी पड़ती है। फिर भी लगता था कि वह ऐश्वर्य और सुख ठीक उसी उम्दा फर्नीचर या क्रॉकरी के समान ही था, जिन्हें किराये पर उठा कर घर लाया जाता है—जिनका उपभोग तो होता है, पर जिनसे वह विशेष तुष्टि आत्मा को अनुभव नहीं होती जो घटिया किस्म के घर में पड़े पीतल या मिट्टी के बर्तनों से ही प्राप्त हो जाया करती है। इस आत्म-तुष्टि के पीछे सम्भवतः अपनत्व की भावना ही है। तभी तो अपंग और भौंड़ी शक्ल के बच्चे भी उनकी मां को सर्वाधिक प्रिय होते हैं। आजादी का मूल्य भी इसी भावना से आंका जाता है। ससुर-गृह में विद्यमान सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर मैं भूमि से ऊपर आकाश में भूलते हुए पालने पर बिठाये जाने की अनुभूति तो अवश्य करता था, पर अन्दर ही अन्दर यह भी अनुभव करता था कि मैं उस सुख का वास्तविक अधिकारी नहीं था, अपितु मेरा स्थान नीचे कांटों और धूल में ही था। मैं पतंग की भांति आकाश की ऊँचाइयों में हिचकोले तो ले रहा था पर मेरा अस्तित्व ससुरजी के हाथ में

स्थिर डोर से बँधा हुआ था। इस सत्य की अनुभूति शनैः शनैः मुझे होती गई और ज्यों-ज्यों यह अनुभूति मेरे हृदय में घर करती गई, त्यों-त्यों हीन भावना का एक झीना-सा पर्दा मेरे मस्तिष्क पर पड़ता गया और मेरे ज्ञान-चक्षु को बोझिल करता गया।

मैं जिस विभाग में काम करता था, वह जगदीशचन्द्र माथुर के ही आधीन था। यह मेरे लिये विशेष लाभ की बात थी और साथ ही इसी कारण मैं कुछ घुटन सी भी अनुभव करता। मेरे साथ काम करने वाले मुझसे कुछ ईर्ष्या या द्वेष की भावना रखने लगे थे, जब उन्हें किसी तरह इस बात का आभास हो गया कि मैं जगदीशचन्द्र माथुर का ही आदमी हूँ। सच में मेरी अनुपस्थिति में मेरे विरुद्ध उँगलियाँ उठाई जातीं।

'सिफारिशी टट्टू है साला' उनके रोष का मुख्य वाक्य यही होता। मैं कैसे इन आरोपों से अपने को मुक्त कर उनकी मित्रता प्राप्त करता? जितना ही शालीन, नम्र और मद्र व्यवहार मैं उनके साथ निभाता, उतना ही अधिक उपालंभ उनसे मैं प्राप्त करता। मुझे यह सोच कर घृणा सी होती कि शिक्षित होते हुए भी, कितना संकुचित और अनुदार दृष्टिकोण था मेरे सहयोगियों का, पर मेरी घृणा केवल मुझे ही गर्जित करती, वह दफ्तर में मेरे विरुद्ध व्याप्त वातावरण को मेरे वश में करने में सहायक न होती। मेरे विरुद्ध शिकायत आफीसर और यहाँ तक कि माथुर साहब तक मेरी छोटी-मोटी भूलों का विस्तार से उल्लेख होता। एक ऐसे व्यक्ति के लिये जो कालेज से छूटकर नया-नया दफ्तर के वातावरण में प्रविष्ट हुआ हो, ऐसी परिस्थिति कितनी विषम हो सकती है, इसका अनुमान एक भुक्त-भोगी ही लगा सकता है। इन कटाक्षों और आक्षेपों को मैं सहन भी कर लेता, पर जब मुझे स्मरण हो आता कि एक प्रतिष्ठित पुरुष का दामाद होकर मैं इन टके-से मूल्य के बाबुओं द्वारा अपमानित हो रहा हूँ, तो मेरे अन्दर प्रतिहिंसा जागृत हो जाती और अपनी भूलों की ओर ध्यान देने की अपेक्षा मैं अपने कृत्रिम बड़प्पन का प्रदर्शन कर उन पर अपना रोष डालने की असफल चेष्टा करता। एक दिन ऐसे ही मैंने एक सहयोगी को अपने

विरुद्ध सैक्शन आफीसर के कान भरते हुए पाया तो अन्दर-ही-अन्दर बौखला सा उठा।

"सर, मुझे अपने काम में किसी से सहयोग नहीं मिलता", मैंने एक दिन सैक्शन आफीसर के पास आकर निवेदन किया।

स्पष्ट था कि सहयोग प्राप्त करने में असफल रहना मेरी अपनी ही कमी को जाहिर करता था, न कि किसी सहयोगी के प्रति अभियोग की पुष्टि। अतः सैक्शन आफीसर झुंझला कर बोला, "यह कोई शिकायत नहीं। तुम्हारे पास एरियर बहुत बढ़ गया है। जरा काम में दिल लगाओ।"

"लेकिन जनाब ! कई केस ऐसे हैं जिनकी या तो फाइलें नहीं मिलतीं या पिछला रेफरेन्स नहीं मिल पाता।"

"लेकिन ये बातें तुम कभी मेरे नोटिस में तो नहीं लाये ?"

"सोचता था कि बिना आपको बोदर किये साथियों के सहयोग से ही काम निकाल लूंगा।"

सैक्शन आफीसर मेरी कठिनाइयों पर शायद विचार करने लगे थे कि पास में खड़े बाबू ने तभी कटाक्ष कर दिया। वह बोला "प्रिवीलेज्ड पोजीशन के आदमी हो दोस्त, वरना कभी का जवाब तलब हो जाता।" सुन कर मैं क्रोध में लाल-पीला हो गया।

"मैं सैक्शन आफीसर से बातें कर रहा हूँ, आपके हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं।" मैंने फटकार दी।

सैक्शन आफीसर भी जानता था कि मैं माथुर साहब का आदमी हूँ, अतः उस सहयोगी के रिमार्क्स पर उन्हें भी कुछ संकोच हुआ। मध्यस्थता करते हुए उससे बोले, "आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए, मिस्टर।"

"पर जनाब, मैंने अनुचित बात नहीं कही। आप स्वयं डायरिस्ट से पूछ कर देख लें, कि कितनी रीसिटें इनको मार्क होती हैं और कितनी दूसरों को। इस पर भी इनके पास एरियर बढ़ रहा है।"

मेरे सहयोगी ने वे 'फैक्ट्स' सामने रखे जिनका न तो सैक्शन आफीसर खण्डन कर सकते थे और न मैं ही। किसी तरह सैक्शन आफीसर ने

उस समय तो मामला शान्त कर दिया पर मेरे काम न सँभालने की रिपोर्टें माथुर साहब तक पहुँचती ही चली गईं।

एक दिन उन्होंने ही मुझे बुलाकर समझाना शुरू किया।

वह बोले, "मिस्टर राघव! आप शिक्षित और बुद्धिमान हैं। थोड़ा काम सीखने का प्रयत्न करो तो मुझे तुम्हारे विरुद्ध ये शिकायतें सुनने को न मिलें। तुम तो शायद जानते हो कि मैं शर्मा जी का कितना आदर करता हूँ।"

उनके ये नपे-तुले शब्द मेरे लिये शिक्षाप्रद ही थे, पर मुझे लगा कि माथुर साहब ने अपने तरकश में से उन तीरों को छोड़ दिया था जो मुझे घेर कर लहू-लुहान कर देते यदि ससुर के रिश्ते का कवच मैंने न पहना होता। मैं लज्जित हो उठा।

"मुझे बहुत दुःख है और विश्वास दिलाता हूँ कि आगे आप को मेरे कारण परेशान न होना पड़ेगा।" कहते हुए मैंने उस समय माथुर साहब से अपना पिण्ड छुड़ाया। मुझे लज्जित देख कर शायद उन्हें भी दुःख हुआ हो, क्योंकि इस घटना के बाद में उन्होंने मेरे ससुर से किसी न किसी रूप में अवश्य जिक्र कर ही दिया था। शायद टेलीफोन पर बातें हुई हों, ऐसा मेरा अनुमान है, जिसकी पुष्टि उसी दिन शाम को हो गई। मैं अपने कमरे में बेला से बातें कर रहा था कि नौकर आया और बोला कि बाबू जी मुझे अपने कमरे में याद कर रहे हैं। शर्मा जी का नौकर उन्हें बाबू जी और मुझे जीजाजी कह कर सम्बोधित करता था।

बेला जानती थी कि मुझे शर्मा जी का सामीप्य विशेष पसन्द नहीं, था क्योंकि उनके व्यवहार से मुझे आत्मीयता की कमी स्पष्ट खटकती थी, यद्यपि मैंने नित्य उन्हें अपने कल्याण और हित के लिये अवश्य चिन्तित और आतुर पाया।

बेला तब मुझे अपने पिता जी से यों कतराने पर केवल विनोद महसूस करती थी।

"हो आओ, कुछ समझाने की ही बात करेंगे," वह आग्रहपूर्वक बोली।

मैंने शर्मा जी के कमरे में प्रवेश किया तो वह छूटते ही बोल उठे, "अरे राघव ! दफ्तर में सैक्शन आफीसर से तुम्हारी क्या बनती नहीं ? उससे तुम दबते क्यों हो ? मैट्रिक पास तो है वह केवल। तुम तो बी० ए० हो। ऐसी टिप्पणियां दिया करो फाइलों पर कि दांत खट्टे हो जायें।" शर्मा जी इसी प्रकार अपने आत्मीय जनों का उत्साह बढ़ाते थे।

मैं बोला, "जी नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं, वह बेचारा मेरा काफी लिहाज करता है।"

पर शर्मा जी अपना मंतव्य स्पष्ट करते गये। मुझे अधिक बोलने की छूट न देकर बोले, "क्या लिहाज करता है ? आज माथुर साहब सुना रहे थे कि तुम दबंग होकर नहीं चलते। हमें देखो—हम तो मैट्रिक भी पास नहीं हैं, लेकिन बड़े-बड़ों को झुकाया है; जरा बुद्धि चौकन्नी होनी चाहिये।"

और इस प्रकार चर्चा का एक सूत्र पकड़ कर शर्मा जी अपने अनुभवों को व्यक्त करने का या सामाजिक घटनाओं पर अपनी विस्तृत टिप्पणियां देने का अवसर निकाल लेते थे। उनकी उक्तियों में पाण्डित्य का पुट तो कम ही होता, पर कौशल का प्रबल चमत्कार छुपा रहता था।

उस दिन भी उन्होंने दफ्तर के काम-काज में मेरी अयोग्यता की ओर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत कर अपने अनुभवों को सुनाना प्रारम्भ कर दिया। शायद इसलिये कि मैं उनसे कुछ सबक सीखूं।

वह आगे बोले, "तुम युवक हो ! जरा चला-फिरा करो ताकि सम्पर्क बने। गुदड़ियों में छुपे रहने से तो कल मेहतर भी बात नहीं करेगा। अब जमाना ही ऐसा आ गया है कि जो तिकड़मबाजी करता रहेगा, कोई न कोई स्थान बना लेगा, सोने का जमाना गया !"

शर्मा जी के शब्दों को सुन कर मैंने महसूस किया कि उनका कथन सत्य था, पर सत्य होते हुए भी, स्पष्ट न था। मैंने बेला से प्रश्न किया कि आखिर उसके पिता जी मुझसे क्या चाहते थे ? पर बेला की अपेक्षा मुझे अपनी सास के उलाहनों में अपने प्रश्न का उत्तर मिला। रात को भोजन के पश्चात् मैं जब घूम-घाम कर घर लौटा ही था तो नम्र शब्दों

में मुझसे जवाब-तलबी की गई।

"कहीं गये थे क्या ?" सास ने पूछा।

"जी नहीं—जरा हवाखोरी करके आ रहा हूँ।" संक्षिप्त से प्रश्न का संक्षिप्त-सा उत्तर दिया मैंने। पर सास की मुख-मुद्रा का अध्ययन कर मुझे तुरन्त उसी समय बोध हो गया कि संक्षिप्त होते हुए भी मेरा उत्तर सन्तोषजनक नहीं था।

उन्होंने ऐसी मुद्रा बना ली कि मालूम होता था मानो कोई ऐसा कटु सत्य प्रकट करने जा रही हों, जिससे मैं अभी तक अनभिज्ञ ही था।

"हवा ही खाते रहोगे, इतनी उम्र बीतने पर भी ?" उन्होंने दूसरा प्रश्न किया। मुझे लगा कि ससुर के कथन और उपदेशों से सास के प्रश्न दिमाग को अधिक परेशान करने वाले होते थे। अन्तर केवल इतना था कि सास के प्रश्नों का, अधिक पैने होते हुए भी, हल मेरे पास था, पर ससुर की उक्तियाँ पहेली बन कर दिमाग में चक्कर ही लगाती रहतीं।

"जी—कुछ काम था क्या ?" सकुचाते हुए मैंने पूछा।

सास का स्वर अब कुछ तीव्र हो गया। बोली, "इतने बड़े हो गये हो, यह भी क्या समझाना पड़ेगा ?"

मैं चुप हो गया। मेरी चुप्पी सास को मानो और खल गई। वह असन्तोष-सा प्रकट करती हुई बोलीं, "बेला के पिता जी नित्य कहते रहते हैं कि व्यर्थ इधर-उधर समय नष्ट न कर लोगों से मेल-मुलाकात बढ़ा लिया करो। पता नहीं, क्यों उनकी बातें तुम्हारी समझ में नहीं आतीं।"

सास अभी बोल ही रही थीं तो नौकर को मैंने कोने से झाँकते हुए देखा। दूसरे कमरे से शर्मा जी की आवाज भी सुनाई दी, "कौन है रे, मलंग !"

"कोई नहीं है जी। अम्मा जी, जीजा जी के साथ बात कर रही हैं।" नौकर चिल्लाता हुआ-सा बोला। मलंग ही उसका नाम था।

वातावरण फिर पूर्णतः शान्त हो गया। सास शर्मा जी के कमरे की ओर चली गईं और मैं अपने कमरे में आ गया, जहाँ बेला कुर्सी में बैठी

कोई उपन्यास पढ़ने का बहाना-सा कर रही थी। मैं बेला से कुछ भी बोले बिना कपड़े बदलने लग गया। कपड़े बदल कर अखबार उठाया और चुप-चाप एक ओर कुर्सी पर बैठ गया। बेला मेरी ओर बढ़ी और मेरे हाथों से अखबार छीनती हुई हँस कर बोली, "नाराज हो गये हो अम्मा की बातों पर ?"

शायद उसने मुझसे किये गये अपनी माता जी के प्रश्न सुन लिये थे। मैं वास्तव में थोड़ा-बहुत झुंझलाया हुआ था। बोला, "यह कौन-सा तरीका है तुम्हारी अम्मा के बात करने का, कि जब देखो, प्रश्न ही करेंगी ?"

वह उसी मृदुल स्वर में बोली, "पर उन्होंने कोई गलत बातें थोड़ी ही कही हैं।"

"लेकिन भली भी कौन-सी थीं ?"

"क्यों ?"

"इस समय मुलाकात का कौन-सा समय है ? रात के साढ़े नौ बज रहे हैं।"

बेला हँस दी—वही मीठी-सी हँसी, जो उसके सौंदर्य को चार चांद लगा देती थी और जिसमें मेरी सारी झुंझलाहट और परेशानी पिघलकर रफूचक्कर हो जाती थी। मैं कुछ संयत होकर फिर बोला, "मुझे तुम्हारे पिता जी सम्पर्क बढ़ाने को तो कहते हैं, पर समझ में नहीं आता कि सम्पर्क बढ़ाया कैसे जाये। किसी के पास मिलने के लिये जाने का कोई बहाना तो होना चाहिये।"

बेला बोली, "इसमें बहाने ढूंढ़ने की क्या आवश्यकता है ! आपको मिलने से कोई इन्कार थोड़े ही करेगा।"

"लेकिन बातों का सिलसिला जमाने के लिये कोई सूत्र तो होना चाहिये।"

बेला फिर हँस दी और बोली, "वाह ! पिता जी तो छूटते ही मजाक करना शुरू कर देते हैं और फिर उसके बाद दुनिया भर की बातें।"

मैं बोला, "तुम्हारे पिता जी से मेरा क्या मुकाबला, बेला ! उनके मजाक का भी तो मूल्य है। किसकी हिम्मत है कि उनकी मजाक को सिर पर न रखे। हँसी, मजाक, प्रीत और रिश्ता बराबरी में ही शोभा देता है। जहाँ बराबरी न हो, वहाँ 'टू दी प्वाइंट' ही बात करना लोग ज्यादा पसन्द करते हैं।"

मेरे कथन पर बेला अब कुछ गम्भीर सी हो गई। मैंने बातों का विषय बदलने के लिये सिगरेट निकाल ली पर माचिस नहीं थी। बेला मेरा मनोभाव ताड़ती हुई उठी और नौकर को आवाज देती हुई बोली, "चौके में माचिस होगी, जरा जल्दी ले आओ।"

बेला ने जल्दी शब्द पर जोर दिया था, पर फिर भी माचिस लाने में बलास ने देर हो गई। मैं तो कुछ नहीं बोला, पर बेला झुँझला उठी।

"माचिस चौके से लाये हो या बाजार से ?" उसने बलास से पूछा।

"दीदी ! अम्मा जी आ गईं थीं चौके में।"

"फिर ?"

"पूछने लगीं कि माचिस की किसको जरूरत पड़ गयी।"

"तो ?"

"मैं बोला, दीदी मँगा रही हैं।"

बेला खिलखिलाती हुई हँस पड़ी, "यानी मैं सिगरेट पीऊँगी—यही मतलब था न तेरा ?"

बेला की हँसी छूत की बीमारी की भाँति बलास को पकड़ गई। वह भी मुक्त रूप से हँसता हुआ बोला, "नहीं दीदी, पर अम्मा जी समझ गईं।"

"क्या ?" बेला ने पूछा।

"यही कि माचिस सिगरेट जलाने शायद जीजा जी ने मँगवाई हो।"

कहता हुआ बलास थोड़ा सकुचाया, मानो उसका संकोच यह स्पष्ट करता था कि मेरे सिगरेट पीने पर अम्माजी ने अवश्य आपत्ति की होगी।

मैंने उत्सुक हो बलास से पूछा, "कुछ कह रही थीं क्या ?"

"कहा तो कुछ नहीं पर गुस्सा हो गई हैं।" सरल सा उत्तर था अलख का।

वेला कृत्रिम-सा गुस्सा करती वोली, "अच्छा, तू जा यहाँ से···वातूनी कहीं का !"

मैं समझ गया कि क्यों वेला ने उसे वीच ही में टोक कर भगा दिया। शायद इसीलिये कि ऐसे प्रसंगों को जिनसे उसके माता-पिता के प्रति मेरे संकोच और भय के वढ़ जाने का खतरा था, वह वढ़ावा नहीं देना चाहती थी। मैं उसके चातुर्य पर मुग्ध हो खामोश सा वैठा रहा।

"अव क्या देख रहे हो, सिगरेट नहीं जलाओगे ?" चितवन में एक वाँकी अदा भरती हुई उसने आगे वढ़ कर मेरे हाथ की सिगरेट को मेरे होंठों पर रख दिया और माचिस जला दी।

मैं मुग्ध हो सिगरेट के कश खींचता हुआ उसके सौंदर्य को निहारने लगा। वह मुझे परी सी लग रही थी। उसका सौंदर्य विशेषतः तव मुझे और भी निखरा हुआ लगता जव झुँझलाहट और ग्लानि से दग्ध मन पर वह अपने स्निग्ध प्यार के छींटे मारकर मुझे शान्त और आत्मविभोर करती।

"वेला !" मैंने उसे अपने पास वैठाते हुए सम्वोधित किया।

"कहिये !" होंठों में मुस्कान और लोचनों में मेरे अन्तराल को वींध जाने वाली दृष्टि फेंकती हुई वह वोली।

मौन सा, भावुकता के प्रचण्ड प्रभाव में वहता हुआ मुझसे आगे कुछ न वोला गया।

"ऊँ" शर्माते हुए उसने गर्दन झुका ली।

मेरी भावुकता की आग में उसके ये शब्द मानो घी का काम कर गये। मैं उसे वाहुपाश में वाँधने को सक्रिय हुआ तो वह फुदकती हुई यह कह कर कमरे से वाहर हो गई कि वह मेरे लिये चौके से दूध लाने को जा रही है।

# तीन

एक दिन मैं अपने ऑफ़िस से घर लौट रहा था कि कनाट प्लेस में कालेज के दिनों का एक मेरा घनिष्ठतम मित्र मिल गया। छूटते ही उसने मुझे आलिंगन में बांध कर उठा लिया और गालों पर कई चुम्बन अंकित कर दिये।

"अबे रघु! बड़ा पीला पड़ गया है" सरसरी दृष्टि से मेरे सिर से लेकर पैर तक का मुआयना करके वह बोला।

मैं हँस पड़ा। फिर उसके हाल-चाल पूछने लग गया और इस प्रकार हम एक पटरी पर खड़े-खड़े कालेज के बीते हुए दिनों की याद ताजा करने में इतने मग्न हो गये कि समय और स्थान का ध्यान ही न रहा। अचानक ही मैं चेतन हुआ और बोला, "चलो, एक प्याला एस्प्रेसो का ले लें।" उसने सहमति दी और बोला, "यह तो तुम ने बताया ही नहीं कि क्या करते हो।"

हम स्टैंडर्ड में पहुँचे और बैरे को आर्डर देते हुए मैंने मित्र को बताया, "सैक्रेटेरियट में असिस्टेंट हूँ।"

"दे मारा!" कहते हुए वह मानो कुछ उछल-सा गया।

"इम्तिहान दिया था क्या?" पूछा उसने।

"नहीं यार। बस यूँ ही टक्का-पंजा लग गया किसी तरह। मेरे ससुर के परिचित थे एक अण्डर सेक्रेटरी, उन्हीं की कृपा हो गई।"

"ओहो! तो शादी भी कर ली जनाब ने।" उसका आश्चर्य बढ़ता गया। मैं हँस पड़ा। हम एस्प्रेसो के घूँट लेने लग गये।

"और भी कुछ है?" उसी शरारती टोन में उसने पूछा जिसमें बोलने का वह अभ्यस्त था।

"नहीं, अभी कुछ नहीं।" उसका आशय समझ कर मैंने हँसते हुए

उत्तर दिया। उसने अब गम्भीर मुद्रा बना ली।

"ससुराल किधर है ?"

"यहीं दिल्ली में, यानी दरियागंज।"

"खूब ! पहुँच वाले हैं क्या ? तुम्हारी नौकरी लगा दी इसी लिये अनुमान लगा रहा हूँ," वह बोला।

"चल कर देख ही लो न। मैं उन्हीं के पास रहता हूँ।"

वह पहले तो चुप रहा फिर बोला, "हाँ भई, भाभी को देखने का तो पूरा इरादा है पर फिर कभी सही। मुझे तुम अपना पता दे दो।"

"आज क्या हुआ···संकोच है क्या ?" मैं बोला।

"नहीं, संकोच की क्या बात है, पर······" वह मानो कुछ सोच रहा था पर फिर तुरन्त निर्णय देता हुआ बोला, "चलो, जैसी तुम्हारी मर्जी !"

रात्रि के करीब नौ बजे मैं मित्र सहित घर पहुँचा। उसे ले जाकर मैंने अपने कमरे में बिठा दिया और बेला की खोज में मैं दूसरे कमरे में आया। देखा वह अपनी अम्मा के साथ किसी और स्त्री से बातें कर रही थी। उसने और उसकी अम्मा, दोनों ने मुझे देख लिया था, वह तो अम्मा के समक्ष पूछने में संकोच कर गई, पर उसकी अम्मा ने भी मुझसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं समझी कि उस कमरे में आने का मेरा क्या प्रयोजन था। स्पष्टतः मेरे यों देर से घर लौटने पर मेरी सास बहुत असन्तुष्ट हो जाती थीं पर आज उनकी भावभंगिमा में असन्तोष के स्थान पर उपेक्षा देखने को मिली। मेरी जो भी माँग होती थी, उसके लिये मैं बेला का ही अवलम्बन लेता था। सास-ससुर और यहाँ तक कि अलख से भी कुछ नहीं कहता। अतः मैं कुछ बोले बिना ही वहाँ से चल कर वापस अपने कमरे में आ गया। यह विचार मेरे मस्तिष्क में बिजली की भाँति कौंध गया कि मेरा यों जाने और पागल की भाँति लौट कर आ जाने की यह हरकत मेरी सास को असभ्य और गँवारू अवश्य लगी होगी। मैंने कुछ झेंप महसूस की, पर नित्य की भाँति आज भी उसे पी गया।

"भाभी को बुलाने गये थे न" मेरे लौटते ही मित्र ने प्रश्न किया।

मैं कुछ न बोला। अपनी सहमी हुई सी मुद्रा को कृत्रिम रूप देने का प्रयत्न करते हुए मैं हँसा और सिगरेट का डिब्बा पेश करते हुए बोला "लो सिगरेट पीओ और यह बताओ कि चाय मँगवाऊँ अथवा कुछ ठण्डा ?" कहने को तो मैं कह गया पर फिर लज्जित हो उठा। कारण स्पष्ट था कि तीन घण्टे से वह मेरे साथ था और यह समय उसे खाना खिलाने का था, न कि चाय आदि के लिये पूछ कर टाल देने का। पर मैं अच्छी तरह जानता था कि चाय आदि से भी यदि इस समय उसकी आवभगत हो सके तो बड़ी गनीमत है। उसे मेरे मन में उठ रहे विचारों की जानकारी होना कैसे सम्भव था। वरना स्वयं वह कोई ऐसा मार्ग निकाल लेता कि उसका भी आतिथ्य हो जाता और मेरी रक्षा भी। दुनियादारी के मामले में वह पटु था, पर इस समय तो वह स्वयं मानो कुछ 'हिप्नोटाइज्ड' हो रहा था। कमरे की सजावट, शानदार फर्नीचर और तड़क-भड़क देखकर वह दंग था। निःसन्देह उसने ऐसी कोई कल्पना नहीं की होगी कि मेरी ससुराल पहुँच वाली भले ही हो पर इतनी नहीं, जितनी कि उसने पाया। न जाने क्यों, इस अनुभूति से मुझे उस लज्जित अवस्था में भी सन्तोष मिला। मेरी औपचारिकता के उत्तर में उसने भी औपचारिकता बरती। बोला, "नहीं यार, रहने दो। मैं कोई खाने-पीने थोड़े ही आया हूँ। तुम्हें इतना उन्नत देख लिया, यही क्या कम खुशी है!"

उसका उत्तर सुनकर मुझे लगा मानो झेंप, कुण्ठा और आत्म-ग्लानि से निरन्तर मेरी जो क्षति हो रही थी, उसकी आंशिक रूप से पूर्ति हो गई हो। मैं आगे कुछ बोलता कि बेला कमरे में आ गई। मेरा मित्र आदर में उठ खड़ा हुआ। सहज ही मेरे लिये यह अनुमान लगाना कठिन न था कि बेला को देखकर वह केवल प्रभावित ही नहीं हुआ बल्कि शायद जिस रूप की कल्पना कर वह आया था, उससे कई गुना भव्य, शालीन उसे बेला में देखने को मिला। वरना यह जानते हुए भी कि बेला मेरी पत्नी है, उसकी आँखें क्यों बेला के रूप-लावण्य से इतनी चौंधियां गई कि वह बेला की ओर देख भी नहीं पा रहा था। क्यों बेला के सामीप्य से उसके

मुख पर एक प्रकार की हीन भावना सी पैठती चली गई ?

वेला ने ही मेरे मित्र को पहले नमस्ते की और बोली, "बैठिये न, आप खड़े क्यों हो गये ?"

उस गर्व को तूल देने के लिये मैंने नाम लेकर वेला को सम्बोधित किया और अतिथि का परिचय देते हुए बोला, "मेरे मित्र और कालेज के सहपाठी हैं ये ।"

मेरा वाक्य समाप्त भी नहीं हो पाया था कि मेरे मित्र के हाथ सहज ही में वेला की वन्दना को उठ गये ।

"तुमने बताया नहीं कि क्या पीओगे ?" मैंने फिर उससे प्रश्न किया, पर उत्तर मिला मुझे वेला से ।

वह बोली, "भोजन आ रहा है ।"

मैंने सुना तो महसूस किया मानो कानों में किसी कोयल की कुहुक सुनाई पड़ी हो । कृतज्ञ दृष्टि से मैंने वेला को देखा । मित्र मेरा काठ का सा उल्लू बना चुप बैठा रहा ।

दो थालों में जब अलख भोजन ले आया तो उसका संकोच और बढ़ गया । थाल में सजे व्यंजनों को देखकर एक बार उसने मेरी ओर देखा और सिर झुका लिया । कह नहीं सकता कि क्या सोच रहा था वह । सम्भव है, सोचता हो कि भाग्य की इतनी कृपा होने पर भी क्यों मेरा स्वास्थ्य पहले से भी क्षीण देखने को मिला उसे । वेला अब चली गई थी । मित्र के विदा होने पर मैंने सन्तोष की साँस ली और पलंग पर लेट लगाने को उद्यत ही था कि अलख आ गया ।

"बाबू जी बुला रहे हैं," वह बोला ।

वेला वहीं अपने पिता जी के कमरे में अपनी अम्मा के साथ बैठी हुई थी । मैं भी जाकर एक ओर सोफे पर बैठ गया ।

ससुर बोले, "कौन था यह ?"

"जी, मेरा एक मित्र था !" मैं बोला ।

"कालेज में साथ-साथ पढ़े होंगे—आजकल क्या करता है ?"

मैं घबरा गया, क्योंकि यह पूछना तो मैं उससे भूल ही गया था कि वह अब क्या करता था। मैंने सोचा कि यह मेरी नादानी का एक और प्रमाण हो गया।

"जी, आज ही उससे मुलाकात हुई है। क्या करता है, यह पूछ ही न सका।"

"यानी कमाल है! तुम उसे घर ले आये, खाना खिलाया और यह पता नहीं किया कि करता क्या है। अरे भई, कालेज में राजा भी पढ़ते हैं और भंगी-चमार भी। यानी कालेज की दोस्ती कालेज तक ही सीमित होती है। आगे अपने मेल के व्यक्तियों को देखकर ही सम्पर्क रखना चाहिये। और सम्पर्क भी हो तो इसका निश्चित यह मतलब थोड़े ही है कि उन्हें घर लाओ। यानी समझे हो कि नहीं?"

"जी!" कुछ न समझते हुए भी मैंने 'हाँ' कर दी।

मैं गद्दी पर उस दृश्य का दर्शक बना बैठा था जिसमें मैं मुद्दालेह, मेरी सास मुद्दई और ससुर जज की भूमिकाएँ अदा कर रहे थे, पर मुद्दई का पार्ट अभी शेष था। मेरी सास यानी मुद्दई बोलीं, "तुम इतनी देर तक बाहर रहते हो, यह कोई अच्छी बात तो नहीं। लड़की कभी तक भूखी बैठी है।" और असन्तोष से मेरी सास का मुख फूला हुआ था। लड़की से उनका संकेत बेला की ओर था जो वास्तव में प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुकूल मेरे भोजन करने के पश्चात् मेरे ही थाल में भोजन करती थी।

मैं दूसरे आरोप से खिसिया-सा गया। झुकी-छिपी नजरों से बेला की ओर देखा ताकि यह जान सकूँ कि पति की दयनीय दशा पर उसकी क्या प्रतिक्रिया थी, पर उसकी दृष्टि स्वेटर बुनने की सलाइयों में उलझी हुई उँगलियों पर केन्द्रित थी—झुकी हुई—सौम्य भाव लिये।

लौट कर मेरी नजर नीचे फर्श पर बिछे कालीन पर आकर रुक गई। मन अपने कमरे की ओर भाग रहा था जहाँ सम्भवतः सिगरेट का कश लगा कर इस समय मैं मन का बोझ हल्का कर सकता था। मैं इसी

प्रतीक्षा में, कि कब यहाँ से छुट्टी हो, कालीन के रेशे कुरेदने लगा।

"अरे भई, इस पर क्यों मेहरबानी कर रहे हो ?" शर्मा जी ने आखिर यहाँ पर भी मुझे टोक दिया। वह हँस रहे थे और मनोविज्ञान का पारखी होने के कारण मैं समझ गया कि उनकी हँसी में वे समस्त भाव पुंजीभूत थे जो प्रकट करते थे कि मैं केवल संकोचशील, नासमझ और भोला ही नहीं, अपितु असभ्य और गँवार भी हूँ —उठने बैठने के तौर-तरीकों से कतई नावाकिफ़।

मैं अपने-आपको चरम सीमा तक अपमानित महसूस कर अन्दर ही अन्दर क्रोध से झुलस उठा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राख की परतों के अन्दर कहीं कोई चिनगारी झुलस उठती है। मैंने देखा कि तभी एक वक्र दृष्टि का वेला ने भी मुझ पर प्रहार किया मानो इस उद्देश्य से कि वह मुझे इस प्रकार अपमान न सहने के विरुद्ध चेतन कर सके। पर अफ़सोस कि फिर भी मेरी मुखाकृति सौम्य ही बनी रही मानो मेरा व्यक्तित्व पूर्व ही इस बुरी तरह से कुचला जा चुका था कि आत्म-सम्मान नाम की भावना का मेरे अन्दर कतई ह्रास हो चुका हो।

शर्मा जी को सुनाते हुए तभी मेरी सास बोलीं, "उँगलियाँ कितनी पीली कर रखी हैं इन्होंने। क्या अन्दर नुकसान नहीं पहुँचता होगा ? जितना पैसा सिगरेटों में बर्बाद होता है उतने के फल-फूल भी तो खाये जा सकते हैं।"

इस ताजे अप्रत्याशित अभियोग से कमरे का वातावरण एकदम गंभीर हो उठा। सब चुप थे। एक ऐसा सनसनीभरा मौन व्याप्त हो गया जैसे कचहरी में चोरी के अपराध में पकड़े गये चोर के विरुद्ध खून का अभियोग सिद्ध होने पर कुछ क्षण सनसनी फैल जाती है।

मैं निर्लज्ज खामोशी धारण किये बैठा रहा पर वेला ऊन की लच्छियाँ और सलाइयाँ समेट कर अपनी अम्मा को मानो झिड़कती हुई बोली, "ग्यारह बजने को हैं अम्माँ ! पिता जी को दूध तो दे दो।"

मुझे लगा कि चारों ओर से तीरों की बौछार से घायल पाकर वेला

हार परिवार के सदस्य-जैसा भी तो नहीं था। मेरे प्रति पार्थक्य स्पष्ट झलकता था। वह कभी भी विश्वास में लेकर मुझसे अन्तरंग वार्तालाप नहीं करते थे। क्या इसलिये कि मुझे भावनाहीन, विचारशून्य जड़ पदार्थ समझते थे ? पर ऐसा सोचने का कोई आधार तो होता। कब उन्होंने मुझे विचारों के आदान-प्रदान करने का अवसर दिया अथवा कब उन्होंने मेरे समक्ष ऐसी परिस्थितियां रखीं कि मेरी प्रतिक्रिया से मेरी भावनाओं का अनुमान लगाते ? तो फिर स्पष्ट था कि उन्होंने मुझे लड़की दी, बराबरी का दर्जा नहीं। लड़की हमारी संस्कृति में दान की वस्तु होती है। दानी और दानपात्र, दोनों का दर्जा पृथक् है। इसके अतिरिक्त मुझे तो लगा कि मैं बेला जैसे अमूल्य रत्न को दान में प्राप्त करने का योग्य पात्र भी नहीं था। कोई बूंद शीप में जा टपकती है है, तो निश्चित ही उसके मायने यँह नहीं कि वह बूँद मोती ही बने। संयोग बलवान है और उसी संयोग के कारण मेरे भाग्य में भी मोती बनना लिखा हुआ था। मूल रूप से मैं केवल बादलों का एक कतरा था—उन असंख्य बूँदों में से एक जो धूल में मिल जाया करती हैं या अंगारों पर गिर धुआँ बन जाती हैं। सोचता हुआ मैं इसी परिणाम पर पहुँचा कि मेरी कुण्ठा का मूल कारण मेरी गरीबी थी। मैं सोचता जा रहा था कि बेला आ गई। उसने स्विच आन कर मुझे आँखें बन्द कर लेटा हुआ पाया तो सोचा कि शायद मैं सो गया हूं। दूध का गिलास एक ओर टेबिल पर रख कर उसने बत्ती बुझाई और मेरे ही पलंग पर आकर लेट गई। मैं चुप था ताकि उसे पूरा यकीन हो जाये कि मैं वास्तव में प्रगाढ़ निद्रा ले रहा था। वह कुछ क्षण तो गतिहीन रही पर फिर उसकी उँगलियां मेरे बालों में उलझती गईं। उसकी हथेली कभी मेरे माथे को स्पर्श करती तो कभी मेरी पीठ को। यही क्रिया करीब १०-१५ मिनट तक चलती रही कि अकस्मात् मैं चौंक उठा। बेला उसांसें भर रही थी। उसने मेरा हाथ उठा कर अपने वक्ष पर रखा तो मुझे लगा कि उसके वक्ष प्रदेश में भारी उथल-पुथल थी—ठीक जैसे भूकम्प के झटकों से धरती ऊपर-नीचे को

"मैं आपका मतलब नहीं समझा ?"

"बाप बनने का शौक नहीं है क्या ?" पूरे मूड में उतर चुका था वह।

"ओह ! आप मेरी स्थिति की गम्भीरता से अवगत नहीं हैं।"

"देखो राघव ! जो कुछ मैंने सुबह कहा, वह बिल्कुल सच है फिर भी सहानुभूतिवश मैं तुम्हारा केस मिस्टर माथुर को भेज देता हूँ, पर सिफारिश किसी भी प्रकार की न करूँगा। यह मिस्टर माथुर पर निर्भर रहेगा कि वह तुम्हें अनुमति दें या नहीं। बेहतर होगा कि आप उनसे स्वयं मिल लें। मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर स्मरण रहे कि यह छूट केवल इसी केस में दे रहा हूँ।" मैं गद्गद् हो उठा।

सैक्शन आफीसर ने मुझे मेरी पर्सनल फायल दे दी जिसमें मेरा प्रार्थनापत्र लगा हुआ था और मैं उसे धन्यवाद देता हुआ मिस्टर माथुर के पास पहुँचा। मि० माथुर उस समय चाय पी रहे थे। साथ में एक खूबसूरत युवक भी था जो काफी कीमती पोशाक पहने हुए था। रंग गोरा गुलाबी, मुख पर तेज और आकृति में सौष्ठव। आयु लगभग मेरे ही बराबर रही होगी पर उसके और मेरे व्यक्तित्व में जमीन-आसमान का अन्तर था। उसके चेहरे से शालीनता टपक रही थी; शरीर सुगठित, कद लम्बा और 'फीचर्ज' ऐसे कि प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हो सकता था।

माथुर साहब ने मुझे देखा तो चाय की चुस्की लेते-लेते बोले, "कै
आये, राघव ?"

"जी ! अपना ही एक केस है।" खिसियाती-सी मुद्रा में बोला मैं।

"क्या तुम्हारा अपना केस है ?" वह इस समय जरा आराम से
बेतकुल्लफ हो बातें कर रहे थे।

"जी !"

"अच्छा, बैठ जाओ कुर्सी पर। हम जरा चाय पी लें।"

मैं सहम कर एक 'सबोर्डीनेट' की भाँति कोने में पड़ी कुर्सी प
गया।

"चाय पीयोगे ?" मेरी तरफ बिना देखे ही बोले वह ।

"जी नहीं, धन्यवाद !" उसी मिमियाते स्वर में कृतज्ञता प्रकट की मैंने ।

माथुर साहब फिर उस युवक से बोले, "शर्मा जी के दामाद हैं यह । देखा है कभी इन्हें ?"

उस युवक ने एक पैनी दृष्टि मुझ पर फेंकी मानो मेरा मुआयना करने लगा हो । एक विशेष दिलचस्पी से वह मेरी प्रत्येक बात का अध्ययन करता रहा था । मेरे कपड़े, स्वास्थ्य, सौन्दर्य और व्यक्तित्व । थोड़ी देर बाद किंचित् मुस्करा दिया ।

और मैं ? मेरे अन्दर एक प्रबल उत्सुकता जागृत हो गई थी कि सामनेवाला सुन्दर सा युवक कौन हो सकता था जो मेरी ससुराल से भली भाँति परिचित था, जैसा कि माथुर साहब के शब्दों से विदित होता था । वह मेरा निरीक्षण-सा कर रहा था । मेरे माथे पर पसीने के कण झलक आये थे । उसके सामने कितना मुश्किल हो रहा था मुझे । इतना साहस न बटोर सका कि माथुर साहब से उस युवक का परिचय पूछूँ । आखिर मेरा भी तो परिचय माथुर साहब उस युवक को दे चुके थे ।

मैं चोरी-छिपी नजरों से कभी उस युवक को देखता, कभी माथुर साहब को, तो कभी उस कागज को जो मेरे हाथ में थी । अन्ततः माथुर साहब बोले, "लाओ, क्या केस है तुम्हारा ?"

मैंने कागज उनके सामने रख दी और सोचने लगा कि और कोई भी बातें अपने केस के पक्ष में विवेचन करूँ । कहीं माथुर साहब इसे कुछ न कर दें ! मैं बड़ा असमंजस-सा था पर मेरे उत्साह की धड़कन बढ़ रही तब मैंने देखा कि माथुर साहब ने तुरन्त हस्ताक्षर कर उसे प्रमाणित कर दिये । कागज लौटाते हुए वह बोले, "आपसे तो बात और है न !"

"जी !" अनायास ही बोला मैं । मुझे विश्वास हो गया था कि माथुर साहब ने मेरे आगे पढ़ने का प्रस्ताव का समर्थन किया था ।

माथुर साहब गर्दन हिलाते हुए बोले, "ये यह मेरा भांजा है, यह श

क्योंकि कुछ देर पूर्व बेला बिटिया टेलीफोन पर बड़ा जोर दे गई थी।"

मैंने सुना तो गुम्न रह गया। मैं माथुर साहब को खोखली निगाहों से टकटकी बांधे देखता रह गया मानो जो कुछ उन्होंने कहा, उसे समझने की चेष्टा कर रहा था।

शाम को घर आने लगा तो कोई उत्साह नहीं था। आज पढ़ने की अनुमति मिली भी तो फिर पत्नी की सिफारिश पर। सिद्ध हो गया था कि दुनियाँ में मेरा कोई अस्तित्व नहीं था। मेरा बी० ए० पास होना व्यर्थ था। असली डिग्री तो बेला थी जिसके बल पर दरियागंज की एक भव्य कोठी में मुझे रहने को मिल रहा था। सचिवालय में सर्विस लग गई थी और अब आगे एम० ए० पढ़ने की अनुमति भी। जो खुशी कुछ क्षण मुझे माथुर साहब के उस प्रश्न करने पर, जिसमें उन्होंने मेरी पढ़ाई के शौक का उल्लेख किया था, हुई थी वह न जाने कहाँ लुप्त हो गई। मैं घर पहुंचा तो देखा कि वहाँ बड़ी चहल-पहल थी। शायद कुछ अतिथि आये हुए थे और कुछ पड़ोस की लड़कियाँ, जिनकी सम्मिलित हँसी गूंज कर दूर तक सुनाई दे रही थी। बेला का स्वर भी उस हँसी में सम्मिलित सा लगा मुझे। मैं अपने कमरे में जाने की अपेक्षा बैठक की ओर बढ़ गया जहाँ इस समय गोकुल-सा बसा हुआ था, पर बैठक में प्रवेश करते ही मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि उन बालाओं के बीच कन्हैया बना हुआ वही गोरा-सा खूबसूरत युवक मौजूद था जिसे मैंने लंच के समय माथुर साहब के साथ चाय पीते देखा था।

कमरे में मेरे प्रवेश करते ही एक बार सन्नाटा-सा छा गया।

बेला साड़ी का पल्ला सिर पर रखती हुई उस युवक की ओर संकेत करती हुई मुझसे बोली, "आइये, इनसे परिचय करा दूँ। ये हैं शैलेन्द्र, माथुर साहब के साहबजादे!" और फिर मेरी ओर मुखातिब हो ही रही थी कि उस युवक ने आगे बढ़ कर मुझसे हाथ मिलाया और बेला से बोला, "इनसे तो मेरी मुलाकात पिता जी के दफ्तर में पहले ही हो गई है।"

बेला आश्चर्यचकित रह गई।

पर शिष्टाचारवश ऐसा नहीं कर पा रहा था। मुझे पहले ही अपनी एक भूल अखर रही थी और वह यह कि यहाँ दुबारा शैलेन्द्र को देख कर मैंने यह नहीं जाहिर किया कि उससे मेरा परिचय हो चुका है। अपितु ठगा-ठगा-सा खड़ा रहा। ऐसा कर मैंने अपनी घोर अशिष्टता का परिचय दिया। तभी तो वेला भी आश्चर्य में कुछ देर मेरी ओर देखती रह गई, जब शैलेन्द्र ने उसे इस तथ्य से अवगत कराया। कितना मर्म छिपा हुआ था वेला की उस दृष्टि में।

मैं सोच ही रहा था कि मैंने शैलेन्द्र को बोलते पाया।

"समय की बड़ी कमी है कि तुम्हारी च्वाइस के अनुरूप 'पियर' खोज निकालूं। हाँ, अपनी सेवाएँ मैं सादर समर्पित करता हूँ।"

हँसी का फव्वारा-सा छूट गया। प्रशंसा-भरी चितवनों की शैलेन्द्र पर बौछार-सी हो गई। शायद उन लड़कियों में से कई टूट-सी गई हों क्योंकि मैं भी मानता हूँ कि शैलेन्द्र का उत्तर न केवल उपयुक्त था बल्कि मोहक भी था। प्रत्यक्ष में समर्पण के भाव प्रदर्शित करते हुए भी परोक्ष मे उसने उन युवतियों को निमंत्रण दिया था।

"क्यों वेला ! है कोई इतनी बोल्ड कि इसके चैलेंज को असेप्ट कर ले," वही धूर्त युवती वेला को सम्बोधित करती हुई बोली जिसने मुझे शर्मीला कह कर अपमानित किया था।

"वेला बेचारी अब क्या कह सकती है—वह तो 'फील्ड' से बाहर हो गई है," किसी तीसरी ने उत्तर दिया।

मैंने लक्ष्य किया कि मजाक में जो तीर चल रहे थे और जिनसे वेला को भी निशाना बनाये जाना का छुपा हुआ प्रयास किया जा रहा था, उनसे वेला आहत प्रतीत नहीं होती थी, अपितु कुछ तरंगित हो दिखाई दे रही थी। तभी तो उसके कपोलों पर लज्जा की हल्की लालिमा और नयनों में मधुर चांचल्य रह-रह कर प्रकट हो रहा था, जिन्हें वह भरसक छुपाने का प्रयत्न करती हुई भी छुपा नहीं पा रही थी। शायद लम्बे समय से जो रिक्तता, वीरानगी और शून्यता उसके अन्तराल में व्याप्त होती चली

छाई थी, वह सब इन मजाकों की तरलता में पिघल कर बहने लगी थी। वह तरोताजा, प्रसन्न और आत्म-विभोर दिखाई दे रही थी। इसी प्रकार शैलेन्द्र की मुख-मुद्रा से भी कुछ ऐसे भाव प्रकट हो रहे थे कि मानो इन मजाक के क्षणों को वह लम्बी आयु दिये जाने की मन-ही-मन कामना कर रहा हो। वह शिष्ट ढंग से बेला की ओर देखता जाता था, शायद इस आशा में कि वह भी कुछ व्यंग्य करे, पर बेला को उसने इस समय कुछ संकोच और लज्जा करते हुए पाया; सम्भवतः मेरी उपस्थिति के कारण, ऐसा मेरा अनुमान था। वह फिर भी प्रसन्न था। यदि बालू पर छटपटाते हुए मगरमच्छ के समान किसी की स्थिति थी तो वह इस समय मेरी ही थी। मैं महसूस करता था कि उस हँसी के जमघट में मैं उस समय एक अवांछनीय काम की भाँति अशोभायमान था—फूलों से भरे चमन में एक भाड़ अथवा आभूषणों से भरी पेटी में एक निरर्थक कंकर के समान मेरी उपस्थिति उनके मुक्त हास्य-विनोद में व्यवधान बन कर उन्हें अखर भी रही हो, कौन जानता था।

थोड़ी देर बाद कमरे में शर्माजी, मेरी सास, माथुर साहब और एक प्रौढ़ महिला ने प्रवेश किया तो हँसी-मजाक कुछ क्षणों के लिए रुक गया और सब खड़े हो गये। बेला मेरे पास आकर दूसरों की नजर बचाती हुई चुपके से बता गई कि वह प्रौढ़ महिला शैलेन्द्र की माता जी थीं और मैं उन्हें ग्रीट करना न भूलूँ। मैं समझ गया कि इस प्रकार पट्टी पढ़ाये जाने का स्पष्ट अर्थ यही था कि फिर मैं कोई ऐसी भूल न करूँ जैसी कुछ ही समय पूर्व कर चुका था। शैलेन्द्र की माँ आधुनिक वेशभूषा में थी और कुछेक सौन्दर्य-प्रसाधनों का भी उन्होंने प्रयोग किया था। शर्मा जी मुसकरा कर शैलेन्द्र से मिल रहे थे, मानो वह उन्हीं का लड़का हो। इसी प्रकार जब कुछ मिनटों के बाद बेला की अम्मा भी कमरे में आ गईं तो वातावरण में स्नेह और आत्मीयता की और वृद्धि हो चली। शैलेन्द्र की माता जी की दृष्टि मुझ पर पड़ी तो मैंने बेला के कहे अनुसार वन्दना में हाथ उठा दिये, पर उत्तर में वह केवल गर्दन ही हिला सकीं। मुझे बुरा

पर शिष्टाचारवश ऐसा नहीं कर पा रहा था। मुझे पहले ही अपनी एक भूल अखर रही थी और वह यह कि यहाँ दुबारा शैलेन्द्र को देख कर मैंने यह नहीं जाहिर किया कि उससे मेरा परिचय हो चुका है। अपितु ठगा-ठगा-सा खड़ा रहा। ऐसा कर मैंने अपनी घोर अशिष्टता का परिचय दिया। तभी तो वेला भी आश्चर्य में कुछ देर मेरी ओर देखती रह गई, जब शैलेन्द्र ने उसे इस तथ्य से अवगत कराया। कितना मर्म छिपा हुआ था वेला की उस दृष्टि में।

मैं सोच ही रहा था कि मैंने शैलेन्द्र को बोलते पाया।

"समय की बड़ी कमी है कि तुम्हारी च्वाइस के अनुरूप 'पियर' खोज निकालूं। हाँ, अपनी सेवाएँ मैं सादर समर्पित करता हूँ।"

हँसी का फव्वारा-सा छूट गया। प्रशंसा-भरी चितवनों की शैलेन्द्र पर बौछार-सी हो गई। शायद उन लड़कियों में से कई टूट-सी गई हों क्योंकि मैं भी मानता हूँ कि शैलेन्द्र का उत्तर न केवल उपयुक्त था बल्कि मोहक भी था। प्रत्यक्ष में समर्पण के भाव प्रदर्शित करते हुए भी परोक्ष मे उसने उन युवतियों को निमंत्रण दिया था।

"क्यों वेला! है कोई इतनी बोल्ड कि इसके चैलेंज को असैप्ट कर ले," वही धूर्त युवती वेला को सम्बोधित करती हुई बोली जिसने मुझे शर्मीला कह कर अपमानित किया था।

"वेला बेचारी अब क्या कह सकती है—वह तो 'फील्ड' से बाहर हो गई है," किसी तीसरी ने उत्तर दिया।

मैंने लक्ष्य किया कि मजाक में जो तीर चल रहे थे और जिनसे वेला को भी निशाना बनाये जाना का छुपा हुआ प्रयास किया जा रहा था, उनसे वेला आहत प्रतीत नहीं होती थी, अपितु कुछ तरंगित ही दिखाई दे रही थी। तभी तो उसके कपोलों पर लज्जा की हल्की लालिमा और नयनों में मधुर चांचल्य रह-रह कर प्रकट हो रहा था, जिन्हें वह भरसक छुपाने का प्रयत्न करती हुई भी छुपा नहीं पा रही थी। शायद लम्बे समय से जो रिक्तता, वीरानगी और शून्यता उसके अन्तराल में व्याप्त होती चली

आई थी, वह सब इन मजाकों की तरलता में पिघल कर बहने लगी थी। वह तरोताजा, प्रसन्न और आत्म-विभोर दिखाई दे रही थी। इसी प्रकार शैलेन्द्र की मुख-मुद्रा से भी कुछ ऐसे भाव प्रकट हो रहे थे कि मानो इन मजाक के क्षणों को वह लम्बी आयु दिये जाने की मन-ही-मन कामना कर रहा हो। वह शिष्ट ढंग से बेला की ओर देखता जाता था, शायद इस आशा में कि वह भी कुछ व्यंग्य करे, पर बेला को उसने इस समय कुछ संकोच और लज्जा करते हुए पाया; सम्भवतः मेरी उपस्थिति के कारण, ऐसा मेरा अनुमान था। वह फिर भी प्रसन्न था। यदि बालू पर छटपटाते हुए मगरमच्छ के समान किसी की स्थिति थी तो वह इस समय मेरी ही थी। मैं महसूस करता था कि उस हँसी के जमघट में मैं उस समय एक अवांछनीय काग की भाँति अशोभायमान था—फूलों से भरे चमन में एक झंखाड़ अथवा आभूषणों से भरी पेटी में एक निरर्थक कंकर के समान मेरी उपस्थिति उनके मुक्त हास्य-विनोद में व्यवधान बन कर उन्हें अखर भी रही हो, कौन जानता था।

थोड़ी देर बाद कमरे में शर्माजी, मेरी सास, माथुर साहब और एक प्रौढ़ महिला ने प्रवेश किया तो हँसी-मजाक कुछ क्षणों के लिए रुक गया और सब खड़े हो गये। बेला मेरे पास आकर दूसरों की नजर बचाती हुई चुपके से बता गई कि वह प्रौढ़ महिला शैलेन्द्र की माता जी थीं और मैं उन्हें ग्रीट करना न भूलूँ। मैं समझ गया कि इस प्रकार [illegible] जाने का स्पष्ट अर्थ यही था कि फिर मैं कोई ऐसी भूल न करूँ [illegible] ही समय पूर्व कर चुका था। शैलेन्द्र की माँ आधुनिक [illegible] और कुछेक सौन्दर्य-प्रसाधनों का भी उन्होंने प्रयोग किया [illegible]। [illegible] घुलकर शैलेन्द्र से मिल रहे थे, मानो वह उन्हीं का [illegible] प्रकार जब कुछ मिनटों के बाद बेला की [illegible] वातावरण में स्नेह और आत्मीयता की और [illegible] माता जी की दृष्टि मुझ पर पड़ी तो मैंने [illegible] में हाथ उठा दिये, पर उत्तर में वह केवल [illegible]

लगा पर मैंने कोई भाव प्रदर्शित नहीं किया। माथुर साहब को भी मैंने नमस्कार किया तो वह भी 'हैलो' कह कर वेला की ओर बढ़ गये। मुझे लगा कि मैं एक अकिंचन दर्शक की भांति ही वहाँ खड़ा था। मेरे अस्तित्व का किसी को आभास नहीं था। अतः मैं धीमे पगों से बाहर द्वार की ओर बढ़ा ताकि किसी तरह वहाँ से खिसक सकूँ, पर वेला की तेज निगाहों ने मुझे देख लिया। वह मेरे समीप आकर धीरे से बोली, "यों खिसक जाना क्या शोभा देता है आपको ?"

"मेरी जरा तबीयत ठीक नहीं है, वेला।" मैं बोला।

"मैं सब जानती हूँ।"

मैं अब क्रोधित हो चला था। वेला ने मेरा क्रोध लक्ष्य किया तो बोली, "घर पर कोई मेहमान आ जाये तो शिष्टाचारवश कम-से-कम आपको बातें तो कर लेनी चाहिएँ।"

"लेकिन मुझसे कोई बातें करे, तभी तो !"

"छोड़िये भी यह तर्क—"

वेला ने पहली बार यों मेरे प्रति अविश्वास व्यक्त किया था। सोच-कर मुझे बड़ी ठेस पहुँची। वेला ने भी मेरी ओर से आँखें मूंद ली थीं क्या ? जो उपेक्षा सर्वत्र प्रदर्शित की जा रही थी, उसका जरा भी आभास नहीं था वेला को ? मुझसे वह दूसरों का सम्मान कराना चाहती थी। वे भी मेरा आदर करें, क्या इसकी वेला को चिन्ता नहीं थी ? मेरी इच्छा हुई कि स्पष्ट शब्दों में वेला से पूछूँ कि जब मेरा मित्र एक दिन मुझसे मिलने आया था, तब क्या उसका दर्जा एक अतिथि का नहीं था और क्या तब शिष्टाचार की मांग नहीं थी कि उसके परिवार वाले उससे दो बातें कर लेते। पर वह तो गरीब था न, इसीलिए शर्मा जी को उसके भंगी-चमार होने का शक भी हो गया। आज शैलेन्द्र क्या आया हुआ था मानो दिवाली मनाई जा रही थी। परिवार में इतना आह्लाद इसीलिए तो था कि वह एक 'अण्डर सेक्रेटरी' का लड़का था, मेरी तरह या मेरे मित्र की भांति लाचारी का प्रतीक नहीं। सम्भवतः अपना भी शैलेन्द्र का

कुछ अस्तित्व हो, जो इस प्रकार आँखों में बिठाया जा रहा था।

मैंने क्रोध प्रकट करने की अपेक्षा वेला से पूछा, "क्या करते हैं शैलेन्द्र बाबू?"

"इंजीनियरिंग का कोर्स कर रहे हैं।" कह कर फिर एक बार उसने एक विलक्षण भाव से मुझे देखा और अपने माता-पिता के समीप चली गई।

'दोनों बातें हैं' मैं मन-ही-मन में बोला, वरना बातों-ही-बातों में गली के एक छोर पर खड़े होकर शर्मा जी उन्हें वहीं से न टाल देते। वे जो चमचे खनक रहे थे और प्लेटों पर रखी मिठाइयों से निकली सुगन्ध पड़ोसियों की जीभों तक को राइट-लैफ्ट करा रही थी, उसका कुछ न कुछ तात्पर्य तो होगा ही।

निरन्तर की उपेक्षा मेरे अन्दर अब कुछ उद्दण्डता भरने लग गई। मैं चुपचाप एक ओर खड़ा रहा। पर तभी शर्मा जी मुझे पुकारते हुए बोले, "राघव! उधर अकेले में क्या खड़े हो, इधर आओ। इनसे मिल लिये या नहीं?" शैलेन्द्र की ओर इशारा किया उन्होंने।

मैं उनके समीप पहुंच कर बोला, "जी हां, हम अभी इकट्ठे ही बैठे हुए थे।"

माथुर साहब बोले, "हां, शैलेन्द्र को तो आफिस में ही देख लिया था इन्होंने।"

"हमसे तो जिक्र नहीं किया तुमने?" शर्मा जी ने पूछा।

"जी हां, कोई खास बात तो थी नहीं।" कहता हुआ मैं थोड़ा हँस दिया, पर मुझे तुरन्त पता चल गया कि मेरे बोलने में फिर कहीं पर कोई त्रुटि रह गई जिसके कारण सब एक बार क्षुब्ध से दिखाई दिए। शर्मा जी बोले, "देखो, तुम्हारी ही उम्र के हैं शैलेन्द्र, पर शुरू से ही फर्स्ट क्लास आते रहे हैं। अब साल दो साल में इंजीनियर बन जायेंगे। यानी हर चीज का एक समय होता है। पढ़ने की उम्र में पढ़े नहीं, गृहस्थ जीवन में कमाया नहीं, तो अन्त में खाक ही छानने को मिलती है।"

शर्मा जी फिर अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुसार अस्पष्ट सत्य का बखान करने लग गये थे, पर मैं अन्दर-ही-अन्दर काफी चिढ़ गया कि इस अस्पष्ट सत्य को मेरे ही गले क्यों उतारा जाता है, और वह भी समय और स्थान की उपेक्षा कर। सहनशीलता की भी एक सीमा होती है। उसका उल्लंघन कर यदि नम्र शब्दों में उनके समक्ष मैं यह निवेदन कर देता कि जो कुछ वह कह रहे थे, उसका तो मुझे हाई स्कूल में ही पता चल गया था। उसके बाद भी चार साल मैंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी तो वह अपने को किस स्थिति में पाते ? पर मैं चुप ही रहा। केवल इतना ही बोला, "मुझे श्रद्धा है शैलेन्द्र पर।"

"ठीक है। होनी भी चाहिए। पर तुम भी तो कोई ऐसा काम करो न कि तुम पर भी किसी की श्रद्धा हो," शर्मा जी बोले।

मैं थोड़ा-सा हँस दिया और बोला, "अपने लिए क्या कोई कमी करेगा ?"

"कमी तो कोई नहीं करता, पर जब चुस्त बनोगे तभी तो कुछ कर पाओगे। यानी तुम्हारी उम्र में तो हम सुबह पांच बजे से लग जाते थे धन्धे पर और फिर पता नहीं होता था कि दिन में आराम भी किया कि नहीं।"

माथुर साहब की ओर मुड़ कर फिर वह बोले, "तुम तो सब जानते हो। जरा भी सहारा नहीं था किसी का। हड्डियाँ घिस-घिस कर नाम कमाया है, और आज इसीलिए पोजीशन है।"

माथुर साहब हँसते हुए उनके समर्थन में बोले, "अजी, दिल्ली के मालिक हो आप !"

श्रीमती माथुर, शैलेन्द्र और वेला को भी हँसी आ गई। वेला की अम्मा पति की प्रशंसा पर अन्दर से झूम उठीं।

"ठीक है, पर आगे ये लोग भी तरक्की करें, तभी तो," शर्मा जी बोले।

"अजी, सब हो जायेगा। नौजवान हैं, अभी शुरुआत कर रहे हैं",

माथुर साहब एक अनुभवी की भांति बोले, और वहीं पर यह चर्चा समाप्त हो गई। पर जो हीनता उस समय मेरे अन्दर भर गई, उससे मैं अपने को उद्भ्रान्त और प्रताड़ित-सा महसूस करने लग गया। एक ऐसा विष मेरी रग-रग में फैलता चला गया कि चारों ओर मुझे मौत का-सा सन्नाटा नजर आने लगा। मुझे महसूस हुआ मानो उस सन्नाटे में असंख्य नर-कंकाल अपने पंजरों में मुझे आबद्ध करने सब ओर से अग्रसर हो रहे हों।

नित्य-प्रति के अपमान से मेरा कलेजा छलनी हो गया था। मेरी अयोग्यताओं की चर्चाओं के अतिरिक्त मानो कोई और विषय दुनिया में न था। अभी तक मैं भरसक प्रयत्न कर रहा था कि आना दो आना जो साख मेरी बची हुई थी, उसे किसी भी मूल्य पर सुरक्षित रखूँ, पर आज लगा कि मेरा सारा प्रयत्न विफल गया। शिष्ट और नम्र बनकर चलने के जिस दृष्टिकोण को मैं अपनाता चला आ रहा था, वह मुझे अभिशाप सा लगने लगा। मेरी सारी मान्यताएँ और संस्कार चूर-चूर हो गये थे और उनकी धूल में से एक उठा एक विद्रोही व्यक्तित्व।

अगले दिन आफिस से छुट्टी हुई तो मैं घर आने की अपेक्षा सिनेमा-हाल के अन्दर घुस गया। करीब दस बजे रात घर पहुँचा। सबने खाना खा लिया था, केवल बेला उत्सुकता से मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देख मेरी सास गुस्से में बोली, "इतनी देर तक कहाँ आवारागर्दी करते रहे?"

"शरीफ आदमी आवारागर्दी नहीं करते; मैं पिक्चर देखने गया था," मैं बोला।

मेरा उत्तर सुन कर मेरी सास सन्न रह गई। बेला पास ही खड़ी भयभीत-सी दिखाई दी।

"और ये इतनी रात गये तक तुम्हारे लिये झीका करेगी", बेला की ओर इशारा कर मेरी सास बोली।

मन में तो आया कि कह दूँ, कि मेरे लिये क्यों, अपने कर्मों को झीकें, पर प्रत्यक्ष में बोला, "मैं कई बार इन्हें कह चुका हूँ कि ये मेरी

प्रतीक्षा न करें।"

"पर तुम्हारा इतनी रात बीते आने का मतलब क्या है?"

"इसमें मतलब की बात क्या है?" मैंने उल्टा प्रश्न किया।

सास की आँखों में मानो खून उतर आया था। वह बोलीं, "तुम बातें किस तरह कर रहे हो आज?"

"जैसे पहले करता था, आज जरा समझा कर कह रहा हूँ।"

"तुमने पी तो नहीं रखी है?"

"मेरे वंश में आज तक किसी ने नहीं पी; यहाँ की संगत मुझे आगे पिला दे तो कुछ कह नहीं सकता।"

बेला काँप उठी। अपनी अम्मा के मुंह पर हाथ रखती हुई बोली, "अम्मा, चुप भी हो जाओ," फिर आतुर दृष्टि से मुझे देख क्षीण स्वर में बोली, "आप कमरे में जाइये, मैं भोजन लाती हूँ।"

"भोजन मैं कर चुका हूँ।" कहता हुआ मैं अपने कमरे में आ गया।

मेरे पैरों में जैसे शक्ति आ गई थी। लगा, सीना भी जैसे कुछ फूल गया हो। कपड़े उतार कर लेट गया। शर्मा जी के कमरे से बातों का शोर अस्पष्ट रूप से कान में पड़ रहा था। उसकी उपेक्षा कर मैं सो गया। अगले दिन उठते ही मैंने किसी-न-किसी बहाने अपने को छोटे-मोटे काम में उलझाये ही रखा, ताकि बेला को कुछ कहने-सुनने का मौका न दूँ। अपेक्षाकृत और दिनों के आज जल्दी ही आफिस जाने को तैयार हो गया।

"सुनिये", मैंने जूते पहन लिये तो बेला मेरे समीप आकर बोला।

"कहिये", दृढ़ता थी मेरे स्वर में।

"आप नाराज हैं क्या?"

"नाराज क्यों हूँगा?"

"नहीं, आप छुपा रहे हैं।"

"यह सन्देह क्योंकर हो गया तुम्हें?"

वह व्यथित थी, कुछ विकल भी।

"मेरी सौगन्ध, जो आप बताओ नहीं!"

"तुम तो जानती हो कि शैलेन्द्र जैसी मुक्त प्रकृति नहीं पाई मैंने कि तुम्हें तरंगित कर सकूँ। कुण्ठाओं का पुंज मात्र हूँ। सड़ता रहूँगा और अपने चारों ओर वातावरण को भी सड़ाँध से विषाक्त कर दूँगा।"

वेला अब भयभीत-सी दिखाई दी, मानो उसे कोई शंका हो उठी।

"यह कैसी बातें कर रहे हैं आप? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा।"

"चलो छोड़ो फिर। दफ्तर के लिए भी देर हो जायेगी।" मैंने भी इस भय से कि कहीं मेरी बातों का स्तर निम्न न हो जाये, चर्चाओं को मोड़ दिया।

वेला ने मुझे कमरे से बाहर निकलते हुए पाया तो रास्ता रोकती हुई बोली, "आप मुझे गलत समझ रहे हैं। मेरे कहने का अभिप्राय कतई वैसा नहीं था, जैसा कि अर्थ आप लगा गये।"

मैं चुप रहा।

वह बोली, "मैं जो कुछ भी कल कह गई, उसमें सचाई थी और आपके प्रति निष्ठा, वरना जितनी भी बातें होती हैं, कब मैं आपके रास्ते में आई हूँ?"

मुझे फिर चुप देखकर वह बोली, "आप यकीन कीजिये, भला मैं भी कभी आपके प्रति ऐसा सोच सकती हूँ, जैसा आप अनुमान लगा बैठे।"

"क्या अनुमान लगाया है मैंने?"

"आप शायद सोचते हों कि मैं भी, यानी कि आप जब कमरे से निकल जाना चाहते थे, तो मैंने आपको रोक कर अपमानित कराया।"

"नहीं, तुमने तो मेरी भूल का सुधार किया।" मेरे शब्दों में व्यंग्य था।

"आप कुछ भी समझें, वह प्रदर्शन था मेरे अधिकारों का।"

वेला के इस अन्तिम वाक्य ने मुझे कुछ सोचने पर फिर मजबूर कर दिया।

उसने मुझ पर अधिकार समझ कर ही उस समय रोका था। पत्नी

है वह मेरी !

"लेकिन कर्त्तव्य ?" मैंने प्रश्न किया ।

"उसकी क्या अवहेलना हुई है कभी ?"

"मेरी भर्त्सना होते देख तुम्हें कैसा लगता है ?"

"मेरा मौन क्या मेरी मजबूरी प्रकट नहीं करता ?"

बेला के उत्तर स्पष्ट और नपे-तुले थे । मुझे महसूस हुआ कि वह ठीक ही बोल रही थी । फिर भी मैं हल्का न हो सका । बोला, "हम दोनों फिर बातें करेंगे, इस समय आफिस को देर हो रही है ।"

"नही, मै खाली पेट नही जाने दूँगी," अधिकार प्रदर्शन किया उसने ।

"मै कतई भोजन नही करूँगा ।" मेरे शब्दों में इतनी दृढ़ता थी कि उससे अधिकार प्रदर्शन का जो किला बेला ने मुझे बन्धन में रखने के लिये बनाया था, साफ ढह गया । मैं स्वच्छन्द हो आफिस चला गया । भूखा होने पर भी एक विशेष स्थिरता मेरे अन्दर व्याप्त थी । आफिस पहुँच कर दत्तचित हो मैं फाइलो मे उलझ गया । मेरी एकाग्रता को लक्ष्य कर सैक्शन आफीसर मुस्करा दिया । बोला, "लगता है, मिस्टर राघव, अपने 'प्रोमिज' को पूरा करने की अभी से चिन्ता हो गई है आपको ।"

"नही सर, मुझे यही से रोटियाँ प्राप्त होती हैं ।"

"वंडरफुल !" मेरे सहयोगी भी हँस दिये और उनके साथ मैं भी । अभी आधा घण्टा भी मैं काम न कर पाया था कि मिस्टर माथुर ने मुझे बुला लिया । मैं पहुँचा तो मुझे कुर्सी पर बैठने का संकेत करते हुए बोले, "राघव बाबू ! लगता है शर्मा जी आप से विशेष प्रसन्न नही हैं । बेला उनकी एकमात्र सन्तान है और इसी लिये स्वाभाविक है कि तुम से न मालूम क्या-क्या आशाएँ हों । क्यों ?"

"जी !"

"मैं समझता हूँ कि आपके अन्दर प्रतिभा है, आप उन्हें खुश रख सकते हैं, मेरा मतलब है कि जिससे उन्हें खुशी हो, ऐसा कोई हल ढूँढ़ सकते हैं आप ।"

"नहीं, सर, तत्काल नहीं।"

"क्यों ?" आश्चर्यचकित हो मिस्टर माथुर बोले।

"मुझे कुछ भूमिका बनानी पड़ेगी, फिर उसके बाद कथावस्तु का गठन होगा। शर्मा जी सीधा उपसंहार चाहते हैं। परिस्थितियों की विषमता ने उनके अन्दर असन्तोष भर दिया है और मुझे अपने पथ में धुन्ध बिछी हुई लगती है।" मेरे उत्तर ने माथुर साहब को चौंका दिया।

वह सन्दिग्ध से स्वर में बोले, "लेकिन शर्मा जी तो बड़े अनुभवी व्यक्ति हैं। तुम्हें उचित ही परामर्श देंगे।"

"जी हाँ, वह नित्य परिश्रम पर जोर देते हैं, क्योंकि उनकी अनुभूति का मूल मन्त्र वही है; पर इस मन्त्र की व्याख्या उपलब्ध नहीं है कि मैं उनका अनुकरण कर सकूँ। यह कहना तो धृष्टता होगी कि उन्हें मानव-प्रकृति, स्वभाव और रुचि की सही परख नहीं। उन्होंने कई लक्ष्य वेधे हैं और उनका तीर सौभाग्य से सदा निशाने पर ही बैठा है। यदि कभी उनका निशाना चूक जाता तब उन्हें असफलता का कारण ढूँढ़ने की चिन्ता होती।"

माथुर साहब निरुत्तर-से हो गये, वह मेरी ओर ऐसे देखने लग गये मानो मुझे पहचानने का प्रयत्न कर रहे हो। शब्दों में आत्मीयता भरते हुए बोले, "फिर भी उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करो बेटा। वैसे मैं भी उन से बातें करूँगा।"

मैं अपने कमरे में वापस आया ही था कि दस मिनट बाद फिर माथुर साहब ने मुझे बुला लिया। पहुँचा तो देखा, वहाँ बेला बैठी हुई थी—आधुनिक वेशभूषा में समस्त शृङ्गार-साधनों से अलंकृत। वह रूपसी तो थी ही पर इतनी भड़कीली भी हो सकती थी, इसका पहले मुझे अनुमान न था। उसके केश-विन्यास में आज विशेषता थी। मुझे देख वह मुस्कराती हुई माथुर साहब से बोली, "अब चलूँ चाचाजी ?"

माथुर साहब हँसने लगे। बेला की अपेक्षा मुझसे बोले, "जाओ राघव, तुम्हें ही लेने आई थी यह।"

मैं अब समझा कि मुझे दुबारा क्यों बुलाया गया।

"क्यों चाचाजी! मैं यहाँ कभी आई नहीं क्या?" चपल बन कर बोली बेला।

"उनका ऐहसान शैलेन्द्र पर रखो त्रिटिया।"

"नहीं, आप पर रखूँगी।"

हँस कर हार मान ली माथुर साहब ने।

हम ऑफिस से बाहर हुए तो मैंने देखा कि बेला अपने पिताजी की कार ले कर आई थी। वह स्वयं ड्राइव करना जानती थी।

"किधर?" मैंने पूछा।

"आप बैठिये तो सही।"

रेस्तराँ में लाकर उसने अपने और मेरे लिये भोजन का आर्डर दे दिया।

"तुमने भोजन नहीं किया?"

"आप ने जो नहीं करने दिया," मुस्करा दी वह।

मैं पसीज उठा उसकी अदा पर।

"हाँ, कहिये—क्या कहना चाहते थे सुबह आप?" उसने फिर चर्चा शुरू की।

"छोड़ो बेला—इन अनर्गल बातों को। सिवाय कुण्ठा और जलन के क्या मिलेगा उनमें!" मैं बोला।

"अच्छा! तो जैसे आप प्रसन्न ही रहते हैं।" उसने चुटकी ली।

"मेरी प्रसन्नता से तुम्हें क्या?"

"तो फिर किसे है?"

मैं कुछ परेशान-सा हो गया।

"आप चुप क्यों हो गये, बताइये न कि मेरी किस बात पर आपको दुःख पहुँचा?"

"तुमसे क्यों दुख पहुँचेगा, बेला! तुम्हारे माता-पिता जो यों घृणा की-सी दृष्टि फेंकते हैं, मैं उसी से आहत हूँ।"

बेला गम्भीर हो गई, बोली, "लड़की दे कर क्या तुमसे घृणा करेंगे ?"

"तो फिर यह छी-छी किस बात की है ? कोढ़ निकल आया है क्या जिस्म पर मेरे ?"

"छी, कैसी बातें करते हो ! स्वभाव होता है अपना-अपना । वे रूक्ष स्वभाव के हैं । इतनी उन्हें समझ नहीं कि क्या बोलना है और कब । समय और परिस्थितियों की उपेक्षा कर जाते हैं ।"

"पर मेरे ही साथ क्यों ?"

"अब मैं क्या बताऊँ ! साथ रहने से उन्हें शायद भान ही नहीं रहता कि आप दामाद हैं ।"

बेला सम्पूर्ण सच्चाई के साथ बात कर रही थी । उसके शब्दों में आत्म-वेदना छुपी हुई थी ।

मेरा घाव हरा होने लगा ।

मैं अपनी वेदना व्यक्त करते हुए बोला, "कल रात तुम्हारी अम्मा कैसे-कैसे अपशब्द बोल गईं, तुमने सुन ही लिये थे ।"

"अम्मा तो पिताजी की नकल करती हैं । उन्हें नहीं पता, पिता जी के शब्दों के वास्तविक अर्थ क्या होते हैं ।"

मैं चौंक पड़ा । बेला शब्द और अर्थों के बीच भेद की बात कर रह
थी, यानी अपने उस पुष्ट व्यक्तित्व का परिचय दे रही थी जो उस
भोली सूरत, रूप और सौन्दर्य के आवरण में झाँकता हुआ उसके आ
रिक विकास को परिलक्षित कर रहा था ।

उसके शब्दों से मुझे सन्तोष तो हुआ पर फिर भी मैं बोला, "
तो लगता है कि तुम्हारी अम्मा—मुझ में और तुममें भेद बरतती है
कल भूखा रहा, उन्होंने पूछा तक नहीं । तुम्हें यदि घण्टा-दो घण्टा
प्रतीक्षा करनी पड़े तो मेरी जवाबदेही हो जाती है ।"

बेला खिलखिला कर हँस पड़ी ।

"ईर्षालु कब से हो गये आप ?"

"तुम्हारी ग्रम्मा के स्थान पर कोई ग्रौर होता, तब तुम्हारा लांछन सही था।"

"मेरी ग्रम्मा मेरा ख्याल न करेंगी तो फिर कौन करेगा ? ग्राप की निष्ठुरता तो देख ली।"

मैं झेंप-सा गया, पर साथ ही एक मीठी गुदगुदी भी महसूस की मैंने। वेला का हाथ ग्रपने हाथ में ले कर दबाया ही था कि बैरा भोजन ले ग्राया। भोजन के साथ-साथ हमारी बातें चलती रहीं।

"कल रात तो मैं संयम खो बैठा था, वेला। ग्रच्छा हुग्रा, तुमने हस्तक्षेप कर दिया।"

"ग्राप को कुछ पता तो होता नहीं, छोटी-छोटी बातों पर गिला कर जाते हो।"

"छोटी बात कहती हो उसे ?"

"तो ग्रौर क्या ! मेरी ग्राजकल तबीयत ठीक नहीं रहती, इसीलिये ग्रम्मा थोड़ा बहक-सी गईं।"

मैं चौंक उठा।

भयभीत हो बोला, "तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं रहती ? पर मुझे तो नहीं बताया तुमने।"

वेला के गाल लाल हो उठे ग्रौर निगाहें झुक गई।

ग्रधीर हो शिकायत की मैंने, "गुस्सा ग्रा जाता है वेला, पर वास्तव में इतना दूर हुग्रा नहीं तुमसे कि यों विश्वास उठा लो।"

"ग्ररे-रे, ऐसी बात नहीं। वैसे तो तबीयत ठीक है—जरा यूं ही चक्कर ग्रा जाता है। क्या बताती ग्रापसे !" वेला बोल तो गई पर शर्म के मारे साड़ी के पल्ले में मुँह छिपा लिया उसने।

ग्रब उसके कहने का ग्राशय मेरी समझ में ग्राया। मैं रोमांचित हो उठा। कुछ क्षणों तक सत्य होते हुए भी विश्वस्त-सा न लगा, वेला द्वारा दिया गया जिम्मेदारियों के बढ़ जाने का यह मधुर संकेत—स्वागत-योग्य वह प्रकट रहस्य। प्लेट पर से हाथ उठ गया मेरा।

"जरा मुंह तो दिखाओ अपना," फुसफुसाते हुए बोला मैं।

पर वह और सिकुड़ती जा रही थी मानो पत्नी न होकर प्रेयसी के रूप में वह पहला प्रणय-दृश्य प्रस्तुत कर रही हो।

"वेला—"

"भोजन कीजिये न आप!"

"जब तक मुंह छुपाती रहोगी, एक ग्रास भी नहीं लूंगा।"

उसने मेरी ओर देखा। सौम्यता-विभूषित मुख-मण्डल लज्जा से बोझिल पलकों की छाँह में, कपोलों की अरुणिमा लिये चाँदनी छिटका रहा था। आगे दोनों में से किसी से भी भोजन नहीं किया जा सका। अप्रत्याशित खुशी स्वयं में एक बहुत पौष्टिक भोजन है।

बिल चुका कर मैंने प्रस्ताव किया, "समय बहुत है, कुतुब चला जाये।"

"तो पिता जी को टेलीफोन कर दूं।"

"क्या कहोगी?"

"इसमें कहने की क्या बात है? आप साथ जो हैं।"

और जब वास्तव में वेला ने मेरा उल्लेख कर टेलीफोन पर शर्मा जी की अनुमति ली तो वेला पर मुझे नाज़ हो उठा।

हम इण्डिया गेट के हरे-भरे लॉनों और हौज खास का चक्कर लगा कर कुतुब पहुंचे।

वेला ने ऊपर मीनार पर चढ़ने की इच्छा व्यक्त की तो विरोध प्रकट करते हुए मैं बोला, "कुछ कहूंगा तो फिर तुम लाज के मारे टूक-टूक हो जाओगी।"

"हटिये—यों हर समय की छेड़-छाड़ ठीक नहीं।"

"अच्छा, चलो, फिर सीढ़ियां चढ़ें।"

वह हँस दी मानो परास्त होकर हार मान ली उसने।

"उधर एकान्त में," टीलों के पीछे पेड़ों के झुरमुट की ओर फिर इशारा किया उसने।

अभीष्ट स्थान पर बैठकर दिल खोलकर बातें होने लगी हमारी।

बाल्यावस्था के चित्र उभरे, सामाजिक परिस्थितियों की चर्चा हुई, कालेज के दिनों की झाँकियाँ पेश की गई और अन्त में वैयक्तिक जीवन पर उतर आये।

"अच्छा बेला, एक बात पूछूँ, बुरा तो न मानोगी ?"

"कहिये !"

"शैलेन्द्र तुम्हें कैसे लगते हैं ?"

"काफी होनहार, शिष्ट और परिष्कृत रुचि के हैं।"

"आकर्षक लगते हैं ?"

उसे कोई उत्तर नही सूझा। हँस कर बोली, "यह तो आप ही को पता होगा ?"

"मैं किसी विशेष उद्देश्य अथवा अपनी जिज्ञासा के लिए नही पूछ रहा, वरन् एक विश्लेषणात्मक दृष्टि से मानवीय भावनाओं का अध्ययन मात्र करना चाहता हूँ।"

बेला सोच कर बोली, "जहाँ तक उनके स्वभाव, चरित्र आदि आन्तरिक गुणो का संबंध है, वह एक अच्छे व्यक्ति है।"

"मेरा प्रश्न कुछ और ही है। कभी तुम उनसे आकृष्ट हुई हो ?"

"मैंने कभी उस दृष्टि से उन्हें नही देखा, जिस ओर आपका सकेत है।"

"यदि मैं कहूँ कि एक बार देख के देखो तो ?"

"यह परामर्श किसी कवारी लड़की को दीजियेगा," कहती हुई वह फिर हँस पड़ी।

"बेला ! स्त्री अपनी गाँठ कभी नही खोलेगी, चाहे उसे कितना ही कुरेद लो।"

मेरे शब्दो मे बेला को व्यग छुपा हुआ महसूस हुआ। वह जरा उत्तेजित स्वर मे बोली, "ठीक है, पर इसी डर से कि पुरुष फिर उसे बिल्कुल नग्न देखना चाहेगा।"

"नहीं बेला, तुम दूसरा अर्थ ले रही हो ।"

"तो कौन-सी गाँठ रह गई, मुझे खोलने को बाकी ? पर-पुरुष पर गाव रखना स्त्री के लिए क्या हीनतम स्थिति नहीं है ?"

"तुम्हारा कथन सही है । पर वह मन का निर्णय है, विवेक व सीख है, हृदय की चाह को व्यक्त नहीं करता ।"

बेला मेरा मुँह देखती रह गई ।

"हटिये भी ! आप मुझे शब्द-जाल में फँसा कर ही छोड़ेंगे ।" वह खिलखिला कर हँस पड़ी । फिर बोली, "एक खूबसूरत-सी इमारत को देखकर आपके अन्दर प्रशंसा-भाव जाग्रत हो सकते हैं । आप उसे पसन्द भी करेंगे; पर अनधिकृत रूप से उस पर अधिकार करने की चेष्टा तभी करेंगे, जब आप एक चोर या डाकू हों । इसी प्रकार किसी भी पुरुष या स्त्री की ओर लालसाभरी दृष्टि फेंकने का अर्थ है व्यभिचार । पराई वस्तु पर अपनत्व की भावना रखना, चाहे वह कितनी ही श्रेष्ठ अथवा उत्कृष्ट क्यों न हो, कैसे क्षम्य हो सकता है ? शैलेन्द्र एक खूबसूरत इमारत ही हैं जिसे मैं केवल पसन्द करती हूँ, अनुरक्त नहीं हूँ ।"

"पर तुम्हें तो एक खँडहर मिला है उसकी तुलना में !"

"यदि आपको इसी में खुशी है तो खँडहर ही सही, पर उसी पर मैं अनुरक्त हूँ । महलों में रहने वाले इमारत को भी तो खण्डहर तुल्य समझते होंगे । इस प्रकार के नाप-तोल से क्या कोई सन्तुष्ट रह सकता है ?"

"एक हीन भावना का संचार तो होता ही होगा !"

"होता होगा उनको जो ईर्षालु हैं या प्रतिक्रियावादी । जिन्हें अपन क्षमता में विश्वास नहीं है । मुझे तो अपने खँडहर से पूर्ण सन्तोष है औ साथ ही यह विश्वास भी, कि खँडहर इमारत में भी परिणत हो सकते हैं ।

मैं जोर से हँस पड़ा और साथ ही बेला भी ।

"अच्छा, शैलेन्द्र को भी क्या तुमने कभी अपनी ओर आ

पाया ?"

"यह प्रश्न आप उन्हीं से कर लीजिये न ?"

"नही बेला, बुरा न मान कर बताओ, क्या कभी उसने विशेष रुचि प्रदर्शित की है ?"

बेला गम्भीर हो बोली, "यकीन कीजिये आप कि शैलेन्द्र उन उच्छृंखल युवको में से नही है, जिनका मुँह लार से भरा रहता है या पगों में जिनके इतनी अस्थिरता होती है कि देखा और फिसल गये ।"

"ओः ! तुम गलत समझ गईं । मैं उन पर मनचला होने का लांछन नही लगा रहा । सुन्दर फूल पर रीझना स्वाभाविक है । यह रसिकता मानवीय है ।"

"पर आप तो मुक्त हैं इस रसिकता से वरना बरसों एक फूल नही, गुलदस्ता ही महक रहा था आपके समक्ष । आपने तो उस मानवीय रसिकता का तनिक भी आभास नही होने दिया ।" उलाहना दे गई बेला ।

"वह तो मन की एक विशेष परिस्थिति थी ।"

"मानो, वैसे रसिक हैं आप ?" खिलखिला कर हँस पड़ी वह ।

"अवश्य ! और यही प्रश्न मेरा शैलेन्द्र के प्रति है ।"

"तो क्या जो चुहलबाजी वह उस दिन कर रहे थे, उसमें उत्तर नही मिला आपको अपने प्रश्न का ?"

"मेरा प्रश्न केवल तुम्हें लेकर केन्द्रित है ।"

"इसका तो आप स्वय ही अनुमान लगा सकते है । यदि फूल की विशेषताएँ रखती हूँ तो उसके स्वाभाविक आकर्षणो से भी युक्त होऊँगी । पर आप का प्रश्न शैलेन्द्र तक ही क्यो सीमित है ? प्रत्येक रसिक युवक को मेरे रूप-लावण्य का नशा हो सकता है ।" कहते हुए अपने ही शब्दों पर मोहित हो लजा गई बेला ।

"शैलेन्द्र का तुमसे विशेष सामीप्य जो रहा है ।"

"तो उन्हें विशेष नशा हुआ होगा ।" धूर्त हँसी छूट आई उसे ।

"विशेष नशे में उन्मत्त होकर वह आगे बढ़ कर तुम्हारा दामन भी तो पकड़ सकते थे ।" मेरे शब्दो में कसैलापन था, एक ऐसी जकड़ जिसमे बेला ने अपने को बँधे हुए पाया ।

वह मानो उस आरोप से मुक्त होने के लिए दृढ़ शब्दों में बोली, "तब शैलेन्द्र को मैं एक शराबी समझती—शरीफ इन्सान नहीं जो मेरी श्रद्धा का पात्र बना रहे।"

मुझे निरुत्तर पाकर बेला ने व्यंग किया, "निकाल लिया आपने अपने दिल का गुबार ?"

मैं लज्जित हो खिसिया-सा गया।

बेला खिसक कर मेरे बिल्कुल समीप आ गई और मेरी टाई की गाँठ को ठीक करती हुई दर्द-भरे स्वर में बोली, "एक हीन भावना से यों दुखी मत करो अपने को, जो आपके अन्दर घर करती जा रही है। मैं आपके दर्द को समझती हूँ।"

मैं प्लावित हो उठा। आत्मीयता की उस रिमझिम में नहाकर चन्दन के समान शीतल से लेप का स्पर्श अनुभव किया मैंने—बेला के उन शब्दों में। एकान्त होते हुए भी खुले वातावरण ने मुझे बेला को आलिंगन-पाश में बाँधने से रोक दिया। नयनों की मूक भाषा में मेरे अन्तर के भाव बेला तक फिर भी पहुँच ही गये और वह लुढ़क कर मेरी गोद में समा गई।

संध्या को गलियों और बाजारों में जब विद्युत की जगमगाहट हुई तो हम एक अलौकिक सुख की अनुभूति में डूबे घर पहुँचे।

## पाँच

मैं एक उपन्यास लिखने में तल्लीन था। जो कटु अनुभूतियाँ उन दिनों मुझे होतीं, उन्हें एक सूत्र में पिरोकर मैंने—कथानक का गठन कर लिया था और द्रुत गति से कथानक आगे बढ़ रहा था। बेला ही मेरे उपन्यास की नायिका थी जिसे पति के कारण असंख्य यातनाएँ भुगतनी पड़ रही थीं, केवल इसीलिये कि उसका जीवन पति के जीवन के साथ गुँथा हुआ

था। पति की उपेक्षा करना नायिका को सम्भव नहीं था। कुछ इसलिये भी कि पति की वही सर्वस्व थी। डाल पर बैठे हुए पक्षी को निराश्रय करना वृक्ष का स्वभाव नहीं होता। नायिका रीत निभाती गई। वृक्ष पक्षी को आश्रय देता गया, तब तक जब तक कि तनिक भी हरीतिमा शेष रही। वृक्ष के पातहीन और वीरान होने पर, पक्षी स्वयं अपनी आहुति दे देता है, इसी उद्देश्य से कि सड़ कर वह वृक्ष की जड़ों को खाद दे सके और इस प्रकार वृक्ष को उसकी हरियाली लौटा सके। नायिका ने केवल वही पति के लिये किया जिनको करने की संस्कारों ने उसे सीख दी थी—पर पति प्रीत पर बलिदान हो गया। रीत और प्रीत की इस कल्पना को थीम बना कर नायक के रूप में मैंने स्वयं अपने को चित्रित करना चाहा। वेला को उपन्यास की थीम से परिचित करा चुका था। प्रतिक्रिया में उसके आँखों से आँसू फूट पड़े थे। फिर भी उपन्यास लिखने के दौरान न केवल वह मुझे प्रोत्साहित करती रहती बल्कि उसने इतनी रुचि प्रदर्शित की कि उपन्यास लिखने की वह क्रिया तब मेरे लिये मात्र अपनी पीड़ा हल्की करने का माध्यम ही न रही, अपितु वह सृजनात्मक कार्यों की मेरी एक रूपरेखा-सी बन गई। मैं ऑफिस गया होता तो वेला लिखे हुए पृष्ठों को न जाने कितनी बार तन्मयता के साथ पढ़ जाती। रात्रि को मेरे घर लौटने पर वह मुझे अपने पलकों मे उठा लेती और फिर सुबह ऑफिस के लिए प्रयाण करने तक छाया की भाँति पीछे रहती। वह पूर्व ही कर्तव्यनिष्ठ थी पर अब उसकी निष्ठा और विलय की भावना पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी मानो पति के रूप में परमेश्वर समझ कर वह मुझे पूजने लगी थी। एक आन्तरिक खुशी उसे आच्छन्न किये रहती। मेरी दिनचर्या अब बहुत व्यस्त हो गई थी। पांच बजे तक मैं ऑफिस में रहता, उसके बाद फिर कालेज और तब कहीं रात्रि को नौ-साढ़े नौ बजे मैं घर पहुँच पाता था। कोर्स की पुस्तकों का अध्ययन और उपन्यास के पात्रों का चित्रण मुझे इस तरह तल्लीन रखते कि शर्मा जी और सास से आमना-सामना मेरा कई दिनों बाद होता। सास तो मुझे निमग्न मौन

दिखाई देतीं पर शर्मा जी शिष्टाचारवश अथवा अपनी प्रकृति के अनुसार मेरे हालचाल पूछ लेते, दिनचर्या का सूक्ष्म वृतान्त सुनने की उत्सुकता प्रकट करते और फिर अपना सिंहावलोकन प्रस्तुत करने लग जाते। मुझे लगा कि उन्हें मेरे कार्यों की पूरी जानकारी थी, तभी तो उनका असन्तोष कुछ कम होता जा रहा था अथवा फिर यही सच हो कि अपमान-अनुभूति की मेरी प्रतिक्रिया से उन्हें भी कुछ क्षोभ हुआ हो अथवा फिर मेरे हित के चिन्तन में अब उन्हें पहले-जैसा उत्साह न रहा हो। कुछ भी हो, दिल से न सही, मात्र प्रदर्शन के लिए ही, वह कभी-कभी मेरा आदर भी करने लग गये थे।

एक दिन सुबह-सुबह चाय पीकर मैं उपन्यास लिखने में निमग्न था, कि मेरे कमरे के बाहर उनकी पदचाप सुनाई दी। कमरे में प्रवेश करने से पूर्व ही उन्होंने नाम लेकर मुझे सम्बोधित किया मानो संकेत दिया कि यदि पति-पत्नी हास-परिहास अथवा प्रेम-आलाप में व्यस्त हों, तो शालीनता के नाते उचित स्थिति में आ जायें ताकि न उन्हें और न हमें लज्जित होना पड़े। बेला जो अलग कुर्सी पर बैठी हुई चाय पी रही थी, उनके संकेत को समझ कर मुस्करा उठी। शर्मा जी कमरे में प्रवेश करते हुए बोले, "उपन्यास ही लिखा जा रहा है न ? ठीक है। अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग होना चाहिए। व्यर्थ समय नष्ट न कर कार्य में व्यस्त रहने से एक तो दिमाग साफ रहेगा, दूसरे कुछ-न-कुछ लाभ जरूर होगा। यानी सौ रास्ते निकल आते हैं। खुद-ब-खुद कार्य, क्षेत्र बढ़ता जाता है।"

मैंने खड़े होकर उनकी ओर कुर्सी खिसका दी।

शर्मा जी कुर्सी पर बैठते हुए बोले, "रात को काफी देर बाद तुम्हें घर आना पड़ता है। मैं ड्राइवर से कह दूंगा कि वह तुम्हें लेने कालेज पहुंच जाया करे। लेकिन तुम्हें भी स्वास्थ्य का पूरा ख्याल रखना चाहिए यानी सबसे पहले सेहत है।"

मेरे मुख पर कृतज्ञता के भाव उभर आये।

वह फिर बोले, "लिखना अच्छा आर्ट है। इज्जत है और पैसा ?

हो सकता है। क्यों ?"

मैं उनके समक्ष प्रभावित-सा अपने को अनुभव करता। [illegible] हुए भी बोल न पाता। इस समय भी थोड़ा हँसता हुआ [illegible] कह सका।

मेरे संकोच पर झल्ला कर वह बोले, "[illegible], तुम [illegible] लिखोगे, जब बात करने में भी तुम्हें संकोच हो जाता है। [illegible] बोलना चाहिए ताकि सुनने वाले पर भी प्रभाव पड़े। [illegible] के प्रेसीडेंट हैं। सब एक से एक अंग्रेजी जानने वाले हैं [illegible] मुट्ठी में रख लीडरी चला रहे हैं। [illegible] ज्यादा पढ़े-लिखे हैं नहीं, पर बोलना आता है। [illegible] नहीं ?"

"जी, ठीक है आपका कहना!" [illegible] मैंने उनका समर्थन किया।

उन्होंने प्रश्न किया, "[illegible]"

मैं फिर घबरा उठा क्योंकि [illegible] था। पर पूर्व कि मैं कुछ उत्तर देता, [illegible] पुस्तक तो समाप्त हो जाय।"

"बिल्कुल ठीक! [illegible] की जाय। पैसे न मिले तो [illegible] आजकल पैसों का [illegible] है। [illegible] है।"

बातें समाप्त हो [illegible] अपना काम करो!"

वह [illegible] जो कि अब [illegible] आप से कुछ लेने का।"

"[illegible]!" मैं बोला।

पर बेला केवल हँस दी।

जब मैं ऑफिस जाने लगा तो मेरी कमीज की जेब में सौ रुपये का नोट रखती हुई बेला बोली, "अपने लिये सोने का एक टाई-पिन लेते आना, अच्छा-सा। मैं साथ जाती, पर तबीयत ठीक नहीं है।"

बेला का गर्भ तब छठे महीने में चल रहा था।

"तुम तो मुझसे कुछ माँग रही थी—पर अब मुझे ही दे रही हो?"

"मैं तो अपना सर्वस्व दे चुकी···अब क्या दूंगी! अपने लिए नित्य आपको ही माँगूगी। इसके अतिरिक्त मेरी कोई माँग नहीं।"

मैं आत्म-विभोर हो उठा। उसका चुम्बन लेकर ऑफिस चला गया।

एक माह पश्चात् मेरा उपन्यास समाप्त होकर प्रेस में छपने चला गया और ठीक उसी दिन वह प्रकाशित हुआ जिस दिन बेला मेरी पहली संतान की माँ बनी। रॉयल्टी के नाम पर जो पैसे प्रकाशक से प्राप्त हुए, उन्हें मैंने कन्या के नामकरण पर खर्च कर दिया।

बेबी का नाम इरा रखा गया। मेरी दो सन्तानें एक साथ, एक ही दिन उत्पन्न हुईं। एक आत्मिक और दूसरी बौद्धिक। दोनों की मुझे समान ही प्रसन्नता थी और सम्बन्धी एवं परिचितों में भी दोनों की समान ही चर्चा।

माथुर साहब भी पत्नी-सहित 'दोहरा बाप' बनने पर मुझे बधाई देने आये। बेला की सहेलियों में मेरे पिता बनने पर पौरुष की चर्चा थी और लेखक बनने पर आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा।

"छुपे हुए चोर निकले, जीजा जी तो।"

"गजब की ट्रेजेडी लिखी है।"

"सीरियस नॉवल है"

"जीजा जी प्रकृति से ही 'सीरियस' हैं वरना इतने स्टैंडर्ड की चीज लिख पाते क्या!"

भिन्न-भिन्न टिप्पणियाँ की जा रही थीं। समालोचकों में वह युवती भी थी जिसके मजाक से मैंने अपने को अपमानित अनुभव किया था।

आज सर्वत्र मेरे प्रति प्रशंसा व्यक्त की जा रही थी मानो नायिका के रूप मे अपने को उपन्यास में चित्रित कर वास्तविक जीवन में भी आज मुझे नायक के रूप में सहर्ष स्वीकार कर लिया गया था।

मेरे मुख पर सन्तोष और गर्व के भाव एक साथ आ-जा रहे थे। मैं भरसक प्रयत्न कर रहा था कि श्रद्धा के सुमनों की जो वृष्टि मेरे ऊपर हो रही थी उससे इतना न फूल जाऊँ कि सीरियस घोषित होने के बाद पर कहीं 'प्राउड' फील करने के दोष का लांछन न लग जाय। अतः कृत्रिम रूप से मैं मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ सौम्य भाव प्रदर्शित करता रहा, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रोताओं के विशाल जनसमूह में एक प्रभावोद्-पादक भाषण देने के बाद एक नेता मन्द-मन्द मुस्कान से जनता का अभि-वादन स्वीकार करता है।

मेरी सास मेरे पास आ कर बोली, "यह आना-जाना तो लोगों का शाम तक चलता रहेगा। तुम जरा आराम कर लो।"

"ऐसी कोई बात नहीं कि मुझे थकान महसूस होती हो", मैं बोला।

पर वह मान करती हुई बोलीं, "बच्चों वाली हठ मत करो। किताब पर इतना दिमाग लगाया है। ऊपर से पढ़ाई का भी भार ले रखा है। शक्ल तो देखो जरा अपनी, कितने पीले पड़ गये हो!"

सास के प्यार और दर्द का स्रोत आज प्रबल वेग से फूट पड़ा था। वैसे बेला के प्रसवोपरान्त मेरी देख-रेख का भार चुपचाप, मान-हानि का विचार किये बिना, उन्होंने अपने ऊपर ही ले लिया था।

इस प्रकार प्रोत्साहन प्राप्त कर मेरी महत्वाकांक्षा भी आकाश चूमने लगी। मैंने गुप्त रूप से बम्बई के कुछ फिल्म-निर्माताओं को उपन्यास की चर्चा कर कहानी के सम्बन्ध में अनुबन्ध करने के लिये कुछ पत्र प्रेषित कर दिये थे। अधीर हो मैं उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। मेरा विचार था कि शायद ही आशाजनक उत्तर मिले। केवल भाग्य पर कुछ दिनों से भरोसा हो गया था। वास्तव में भाग्य को परखने ही के लिए मैंने पत्र भेजे थे। पर आशा के विपरीत जब एक नहीं बल्कि तीन-तीन फिल्म-निर्मा-

ताओं से, जिन्हें पत्र के साथ मैंने कहानी पर आधारित 'सनोप्सिज' भेजी थी, उत्तर प्राप्त हुए तो मुझे आश्चर्य तो हुआ ही, पर साथ ही मैं शर्मा जी के प्रति अतुल श्रद्धा और विश्वास से भी ओत-प्रोत हो उठा, जो परिश्रम करते रहने के मन्त्र को नित्य मेरे कानों में फूंकते रहते थे। मुझे लगा कि शर्मा जी ठीक ही कहते थे।

मेरे उपन्यास पर आधारित फिल्म बनाये जाने की चर्चा मेरे ऑफिस के मित्रों और परिचितों में शीघ्र ही फैल गई। सबकी दृष्टि फिर एक बार मेरी ओर केन्द्रित हो उठी। मैं कोयले से हीरा बन गया था या धरती के एक बुझते हुए चिराग से अकस्मात् ही परिवर्तित होकर आसमान का एक चमकता हुआ सितारा समझा जाने लगा था।

मेरा फिल्म-निर्माताओं से अनुबन्ध करने के लिए बम्बई को प्रस्थान निश्चित हो गया।

प्रस्थान के दिन बेला मेरा सूटकेस बन्द करती हुई बोली, "कपड़ों के बीच मैंने टाईपिन रख दिया है। जब किसी एक्ट्रेस से मिलो तो टाईपिन लगाना न भूल जाना।"

"पर यदि कोई टाई-पिन में उलझ गई तो?"

"कोई बात नहीं, सौत बना कर रख लूंगी।"

"पर तभी न, जब सही-सलामत लौट पाऊँ। यदि बन्दी बनकर वहीं रह गया तो?"

बेला तरंगित हो हँस पड़ी। बोली, "बातें करना कोई तुमसे सीखे।"

"अच्छा बेला! यहाँ तो तुम छाया बन कर मेरे साथ रहती हो, वहाँ जाकर किसका अवलम्बन लूं?"

वह हँसी और बोली, "मेरा चित्र जो है?"

"उसे भी सूटकेस में रख दिया है क्या?"

"तुम्हारे उपन्यास में जो है।"

"ओह! भूली नहीं हो तुम कहानी को?"

मैंने महसूस किया कि मेरी लिखी हुई कहानी के प्रति रुचि प्रदर्शित

कर रही थी बेला।

"और तुम किसका अवलम्बन लोगी?"

"क्यों? गोद जो भर दी आपने। वह आपका ही रूप है।"

अब मैं तरंगित हो उठा।

"इरा को भी साथ ले चलूं?"

"न बाबा! सौतों पर विश्वास नहीं कर सकती।"

"लेकिन इरा का कोई सौतेला पिता होता, तो मैं विश्वास कर जाता।"

"फिर वही आपने वही बात!" तुनक कर गुस्से में बोली बेला।

उसके गुस्से को लक्ष्य कर मैं खिलखिला कर हँस पड़ा।

"स्टेशन तक चलोगी?"

"ले चलोगे, तो चलूंगी।"

"मैं तो जीवन की अन्तिम मंजिल तक तुम्हारा साथ चाहता हूं—तुम ही अलग हो जाओ तो अलग बात है।"

वह फिर गुस्सा हो गई और बोली, "मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। करनी हो तो इन्हें उपन्यास में किया करो।"

आत्मा की सम्पूर्ण सचाई लिये हुए फिर बोली, "आपसे शरीर अलग हो जाय, यह नहीं सकती पर पूर्व ही आत्मा को या तो आपकी धरोहर रख दूंगी या विलय करती जाऊंगी।"

मैंने उसकी पीड़ा का स्पर्श अनुभव किया और बोला, "नहीं बेला, ऐसी बातें नहीं किया करते।"

घर से मैं शर्मा जी और अपनी सास के चरण छू कर स्टेशन को चल पड़ा।

बेला, इरा-सहित स्टेशन तक मुझे विदा करने आई। कुछ देर पीछे उसकी सहेलियों का एक झुण्ड भी प्लेटफॉर्म पर मिल गया। वे भी मुझे विदा देने आई थीं।

"हाँ, तो जीजा जी! किसी निर्माता या निर्देशक से हमारी भी

सिफारिश कीजियेगा।' वही लड़की बोली, जो मुझे शुरू से ही ज्यादा मुँहफट और चपल लगती थी।

"इसे रोमाण्टिक रोल ज्यादा पसन्द है।" वेला छेड़ती हुई बोली।

"नहीं, सीरियस भूमिका चाहती हूँ।"

"यह परिवर्तन कब से ?" हँसते हुए ही पूछा वेला ने।

"यह तो अपने ही 'देवदास' से पूछो।"

सब खिलखिला कर हँस पड़े थे और उसी हँसी की गूंज में जब गाड़ी की सीटी का स्वर भी मिल गया तो इरा के मासूम मुँह पर एक-दो चुम्बन अंकित कर मैं डिब्बे के अन्दर बैठ गया। गाड़ी धुआँ छोड़ती हुई प्लेटफॉर्म से बाहर होने लगी। वेला और उसकी सहेलियाँ तब तक हाथ हिलाती रहीं जब तक गाड़ी दृष्टि से ओझल न हो गई।

## छः

बम्बई आकर मैं अपने काम में जुट गया। बारी-बारी मैंने उन निर्माताओं से भेंट करने का कार्यक्रम बनाया जिन्होंने पत्र में मेरे साथ कहानी के लिए अनुबन्ध करना स्वीकार किया था। मैंने उनमें से एक निर्माता से किसी तरह उसके घर जाकर भेंट का समय लिया और जिस स्टुडियो में मुझे बुलाया गया था, वहाँ पहुँचा।

निर्माता महोदय अभी तशरीफ नहीं लाये थे। मैंने स्टुडियो के एक कर्मचारी को अपना परिचय देते हुए आने का प्रयोजन बताया तो वह उपेक्षा कर बिना उत्तर दिये ही खिसक गया। मुझे बड़ा क्षोभ हुआ। मैंने महसूस किया कि अपने प्रति जो धारणा कुछ महीनों से मैंने बनाई थी, वह सही नहीं थी, वरना कैसे एक साधारण-सा कर्मचारी एक उपन्यासकार और फिल्मी कहानी-लेखक का यों तिरस्कार करता।

फिर शंका हुई कि सम्भवतः वह कर्मचारी भी मेरी ससुराल के खानदान का कोई व्यक्ति हो जिस खानदान में व्यक्ति को नहीं, व्यक्तित्व को देखा जाता था। सोने का तब तक कोई मूल्य नहीं लगाया जाता, जब तक कि कसौटी में से निकलने के उपरान्त उस पर निखार न आ जाये। स्टुडियो मुझे एक ऐसी हवेली-सी दिखाई दी जो उन वीरान और खामोश महलों की याद दिलाती थी, जिनमें जैसे पहले कभी कोई राजा कई पटरानियों और खवासनों के झुण्ड में विलास-क्रीड़ा में रत रहता होगा, पर जो शायद रजवाड़ों के समाप्त होने पर अब केवल समय की दास्तान बन कर खड़े थे। स्टुडियो का आकार बड़ा था पर न उसमें कुछ भव्यता थी और न आदमियों की रौनक ही, मानो स्टुडियो न होकर कोई शिविर हो जहाँ कुछ समय पहले सेना पड़ाव डाल चुकी हो। तभी तो सब चीजें अस्त-व्यस्त थीं। आधा घण्टा और फिर पूरा घण्टा बीत गया पर न किसी से मैं कुछ पूछ सका और न किसी ने मुझे यों निष्प्रयोजन वहाँ टहलते देख टोका।

आखिर कुछ मजदूर मुझे काम करते हुए दिखाई दिये। वे पूर्व लगे हुए 'सैटों' को बनाने-बिगाड़ने में लगे थे। उनके समीप जाकर मैंने एक से पूछा, "क्यों भाई! प्रोड्यूसर साहब कभी तशरीफ भी लायेंगे या नहीं?"

"हमें क्या मालूम!"

"तुम यहाँ काम करते हो, इसलिये पूछ रहा हूँ।"

"तुम पूछने वाले कौन होते हो, किसी हीरोइन के भाई?"

मुझे गुस्सा आ गया, पर जानता था कि मैं इस समय बेला के साथ नहीं, अजनबियों के साथ एक शहर में आकर बातें कर रहा था।

"यार, नाराज होते हो खामखां। भाई क्या, हम तो हीरोइन की जूती भी नहीं। तुम्हारी ही तरह पेशेवर मजदूर हैं। जरा प्रोड्यूसर ने बुलाया था, इसीलिए पूछ लिया।"

वह मेरे उत्तर से कुछ नर्म तो हो गया पर उपहास करता हुआ बोला.

"समझ गया, उस्ताद ! छँटे हुए लगते हो, तभी तो किसी ऐरे-गैरे का नहीं, प्रोड्यूसर का नाम लेते हो।"

मैं भी कृत्रिम रूप से हँसता हुआ बोला, "अमाँ यार, बताओ तो सही। तुम ही मदद न करोगे तो कौन करेगा ?" साथ ही मैंने उस बीड़ी पीने वाले गँवार को रिश्वत में गोल्डफ्लेक की एक सिगरेट पेश की।

उसने मानो मेरी दोस्ती कबूल करते हुए सिगरेट सुलगा ली और बोला, "आओ, मेरे साथ।"

वह मुझे एक ऐसे व्यक्ति के पास ले गया जो शक्ल-सूरत से तो पढ़ा-लिखा मालूम पड़ता था पर जिसकी बातों से बदतमीजी की अपेक्षा बदगुमानी जाहिर होती थी। उस मजदूर ने मानो मेरा पथ-प्रदर्शन करते हुए मुझे पहले ही समझा दिया था कि अपने और प्रोड्यूसर के मध्य जिससे भी बातें करूँ, जरा रौब से करूँ और अवश्य किसी हीरोइन का झूठा-मूठा आश्रय ढूंढ़ लूं।

"फरमाइये !" उस व्यक्ति ने मुझ से प्रश्न किया जिसके पास मुझे वह मजदूर ले गया था।

निहायत शरीफाना ढंग से एक लोकप्रिय अभिनेत्री का नाम लेते हुए मैं बोला, "...देवी जी से पता नहीं प्रोड्यूसर साहब को कब मेरे बम्बई आने का पता चला कि भेंट का आग्रह कर बैठे। उनसे ही मिलने चला आया हूँ।"

"ओह !" उसकी मुद्रा में अकस्मात् परिवर्तन हो गया।

वह बोला, "प्रोड्यूसर साहब तो देर से अपने कमरे में तशरीफ रखे हुए हैं। आप आइये।"

मेरे दिल की धड़कन एकदम तेज हो गई। झूठ का पर्दाफाश हो जाने का डर अलग परेशान करने लग गया। पर तब मैं चंगुल में फँस चुका था। उसके पीछे-पीछे जाता हुआ आने वाले क्षणों के लिये अपने आपको अन्दर ही तैयार करता गया। प्रोड्यूसर के कमरे के बाहर उस व्यक्ति ने मुझसे प्रोड्यूसर का एपॉइन्टमेंट कार्ड लिया और अन्दर बुला लिया।

"हाँ तो फिर—?" मेरे अन्दर आने पर लापरवाही से प्रोड्यूसर महोदय बोले, और मैंने महसूस किया कि अवश्य अब मेरी खैर नहीं थी, क्योंकि जिस लापरवाही से प्रोड्यूसर महोदय ने बिना देखे ही मुझ से प्रश्न किया था, उससे निश्चित ही यह जाहिर नहीं होता था कि उन्होंने मुझसे भेंट के लिए आग्रह किया था। उस व्यक्ति को अविश्वास प्रकट करने का अवसर न देकर मैं तुरन्त बोला, "जी, आपने स्टोरी का एप्रीमेंट करने के लिए बुलाया था मुझे। यह रहा आपका पत्र।"

मैंने बेग से उनका पत्र निकाल कर उनके सामने की टेबल पर रख दिया। वह पत्र पढ़ कर फिर भी उसी भाँति अनजान बन कर बोले, "हाँ, तो फिर ?"

"मैं कहानी लेकर हाजिर हूँ।"

"हूँ, पर डायरेक्टर साहब तो आये नहीं।"

"तो फिर ?" अब वैसा ही प्रश्न मैंने किया।

वह चिढ़-सा गया, झल्ला कर बोला, "फिर क्या, मैं तुम्हारा गुलाम हूँ जो डायरेक्टर को बुलाता फिरूँ। तुम्हें पहले डायरेक्टर से मिलना चाहिये था। डायरेक्ट मेरे पास आने की हिम्मत कैसे हुई तुम्हें ?"

"लेकिन जनाब—"

पूर्व कि मैं अपना वाक्य समाप्त करता, वह व्यक्ति आखिर आक्रमण कर ही बैठा। बीच ही में टोकता हुआ मुझसे बोला, "तुम तो कहते थे कि तुम सेठ जी के आग्रह पर ही भेंट करने आये हो ?"

"क्या ?" सुनकर आग-बबूला हो उठे थे सेठ जी।

"जी हाँ और—" वह वाक्य समाप्त नहीं कर पाया था कि एक सुन्दर परी बिना पूर्व आज्ञा लिये कमरे में घुस आई। वह उछल कर आदर में उस तरुणी को सिर झुकाता हुआ एक ओर खड़ा हो गया। सेठ जी भी अपने स्थान से उठ कर आगे बढ़े और हाथ मिलाने के बाद, उस 'धरती की मेनका' को बैठने का आग्रह करने लग गये। मैं भी सटपटा गया पर जब गौर से मैंने उस हाड़-मांस के 'सुन्दर चित्र' को देखा तो

आश्चर्य और फिर भय के मारे कांप उठा । यह वही अभिनेत्री थी
का कुछ देर पूर्व मैंने नाम लिया था । परदे का रूप सोफे पर बिखर
तो प्रोड्यूसर की प्यारी आंखें नशा करने लग गईं ।

मेरी ओर इशारा करके वह उस सुन्दरी से बोला, "यह हज़रत कहानी
ख कर क्या लाये कि हम पर ही हुक्म चलाने लगे ।"

"जी हां, और जब इसने आप ही का नाम लिया तो फिर भला इसे
सेठ जी से कैसे न मिलाता !" उस बेरहम शख्स ने आखिर छोड़ा नहीं
मुझे । मेरी सारी पोल खुल गई ।

अब सेठ जी के साथ वह तारिका भी हैरत से मेरी ओर देखने लग
गई । मुझे पसीना छूट गया था । काश, उस अभिनेत्री की जगह पर बेला
होती तो मेरी उस समय वह हालत न होती । बेला भी तो उससे कम
सुन्दर नहीं थी ।

"तो हमें ही ठगने चले थे तुम" सेठ जी बोले, "पर मासूम, इतना
तो खयाल किया होता कि जो दुनिया को ठगते हैं, उन्हें ठगना कहां तुम्हारे
कुव्वत की बात थी । फिर भी तुमने हिम्मत की, इसी दिलेरी पर हम तुम्हें
शराफत कर बाइज्जत कमरे से निकल जाने की इजाजत देते हैं ।"

मुझे लगा कि कहानी लेकर यहां आने का शौक क्या किया कि खुद
कहानी का पात्र बन गया ।

मैं जाने लगा, पर तभी उस तरुणी ने टोक दिया ।

"रुको जरा !" वह बोली ।

"क्या नाम है ?" प्रश्न किया उसने ।

"राघव !"

"मेरा नाम लिया था तुमने ?"

"जी ।"

"क्यों ?"

"बेअक्लों की दी हुई अक्ल पर ।"

वह मेरा उत्तर सुन कर कुछ प्रभावित-सी जान पड़ी ।

"मेरा पता बता दीजिये इन्हें, सेठ जी।" वह प्रोड्यूसर से बोली।

"अजी, क्यों मुँह लगाती हैं ऐसों को।"

"जरा लुत्फ रहेगा। आदमी सीधा और दिलचस्प है।"

प्रोड्यूसर के संकेत पर उस व्यक्ति ने कुछ लिखकर मेरे हाथ थमा दिया।

स्टुडियो से बाहर आने पर मैंने एक लम्बी साँस ली। जिस उत्साह के साथ मैं बम्बई आया था, वह अब जाता रहा था। एक ही मुलाकात से आगे की तमाम आशाओं पर पानी फिर चुका था। सोचता था कि कितनी आशाएँ लेकर बेला एवं अन्य लोग मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। अपने उद्देश्य में असफल होकर यदि लौटा तो निराशा ही नहीं, उपालम्भ का भी पात्र बनूँगा। 'खोदा पहाड़, निकला चूहा' वाली कहावत के चरितार्थ होने का भय था। वापस, जिस होटल में ठहरा हुआ था, आकर मैं चारों खाने चित होकर बिस्तर पर लेट गया। मन में विचारों का अन्धड़ चल रहा था। मैं सोचने लगा कि उस अभिनेत्री को चित्रपट पर देख कैसे मुग्ध हो मैं सिनेमा-हाल से बाहर निकलता था। उसके अभिनय और सौन्दर्य ने न जाने कितने युवकों की नींद छीन रखी होगी; पर आश्चर्य कि जिसकी दूर से ही झलक मात्र प्राप्त करने की साध लाखों मनचले युवकों को बेचैन किये थी, उसे इतना समीप पाकर भी मेरे अन्दर कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। सम्भवतः इसलिये कि तब मैं प्रीत के झूले पर नहीं अपितु फाँसी की रस्सी पर लटक रहा था। मेरे मस्तिष्क में अकस्मात् एक विचार कौंध गया कि क्यों न उस अभिनेत्री से भेंट करूँ। इसमें झूठ की गुंजाइश ही कहाँ थी कि उसे मैं दिलचस्प लगा, वरना क्यों वह मुझे अपना पता देती। भले ही वह मेरा सत्कार न करे, पर यों बुलाना निमन्त्रण की ही तो संज्ञा थी।

मैं शाम को, दिये गये पते पर, उससे मिलने पहुँच गया।

वह घर पर ही थी और तुरन्त उसने मुझे बुला लिया।

मुझे सोफे पर बैठने का संकेत करती हुई वह भी एक आरामकुर्सी

ठ गई और बोली, "कहाँ से तशरीफ लाये हैं आप ?"

"जी, दिल्ली से आया हूँ।"

"कहानी लिखते हैं क्या ?"

"जी हाँ, उपन्यास लिखा है।" कहते हुए मैंने एक प्रति भेंट की।

"खूब ; और भी कुछ लिखा है क्या ?"

"उपन्यास लिखने का तो यह पहला ही प्रयास है, हाँ कहानियाँ बहुत लिखी हैं।"

"फिल्मों का भी शौक है या नहीं ?" वह ज़रा मुस्कराई।

"जी, पिक्चर तो काफी देखता हूँ।"

"कैसी पिक्चरें आपको ज्यादा पसन्द हैं, कौमेडी या ट्रेजिडी ?"

"ट्रेजिडी ज्यादा 'टच' करती हैं।"

"लेखक भावुक होते हैं न, इसीलिये।" उसने टिप्पणी की।

"अच्छा बताइये, किसकी ऐक्टिंग आपको ज्यादा पसन्द आई ?" उसने फिर हँसते हुए पूछा।

मैं सकुचा गया।

"बताइये न ! आपकी भी कोई हीरोइन या हीरो 'पेट' होगा ही ?"

मेरा संकोच बढ़ता गया। उसकी नज़रों में नजर डाली, तो शर्म के मारे पछाड़ खाकर पलकें झुका लीं।

"अरे, आप तो शरमा गये। लो, हम अपना सवाल वापस लिये लेते हैं।"—

—वह खिलवाड़ करने लगी।

"जी नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं।"

"तो फिर बताइये।"

मैंने हिम्मत की और हकलाता हुआ-सा बोला, "ऐक्टिंग तो आपकी ही ज्यादा स्पर्श करती है।"

वह हँस पड़ी मानो उसे पहले से ही एहसास था कि मैं क्या उत्तर दूंगा।

"अच्छा बताइये—क्या खूबी देखी, आपने मेरी ऐक्टिंग में ?"

"उसमें छिछोरपन नहीं होता, गहराई होती है। आप मुँह से न बोल कर आँखों से भाव व्यक्त करती हैं।"

वह पुलकित-सी जान पड़ी—पर साथ ही वह 'सीरियस टॉक' पर आ गई।

"आपके उपन्यास की 'थीम' क्या है ?" उसने अब वार्ता में दिलचस्पी लेना शुरू किया।

मैंने संक्षेप में उसे कहानी सुना दी और थोड़ा-सा पात्रों का भी चरित्र-चित्रण प्रस्तुत कर दिया।

संकुचित हँसी में मैं फिर बोल उठा, "नायिका की भूमिका के लिए आपसे उपयुक्त कोई दूसरी नहीं हो सकती।"

यह सुनकर वह खूब हँसी। बोली, "हमें दिल में बिठा रखा है आपने, ऐसा जान पड़ता है।"

मैं बेहद शरमा गया।

वह जब दिल खोल कर हँस चुकी तो बोली, "आप दो-तीन दिन बाद तशरीफ लाइयेगा। यदि हो सका तो मैं आपकी मदद करूँगी। मैं आपकी 'पेट हीरोयन' जो ठहरी, तभी तो मेरा सहारा ले बैठे।" वह मुस्करा रही थी।

"मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ।"

"ऐसा न सोचिये।"

"वास्तव में तब मैंने आपका नाम लेकर छल किया था।"

"ठीक है, पर अब हकीकत जाहिर करके आपने मुझ पर ऐहसान किया है।"

उसका उत्तर सुनकर मैं चकित था, पर वह मुस्करा रही थी।

"तब आप दूर से मेरी चकाचौंध पर शायद फिदा रहे हों, पर अब करीब आकर मुझ पर भरोसा कर बैठे। झूठ बोल रही हूँ क्या ?"

विमूढ़-सा मैं उसके शब्दों का ठीक अर्थ नहीं लगा पा र

ए बैठ गई और बोली, "कहाँ से तशरीफ लाये हैं आप ?"

"जी, दिल्ली से आया हूँ।"

"कहानी लिखते हैं क्या ?"

"जी हाँ, उपन्यास लिखा है।" कहते हुए मैंने एक प्रति भेंट की।

"खूब ; और भी कुछ लिखा है क्या ?"

"उपन्यास लिखने का तो यह पहला ही प्रयास है, हाँ कहानियाँ बहुत लिखी हैं।"

"फिल्मों का भी शौक है या नहीं ?" वह जरा मुस्कराई।

"जी, पिक्चर तो काफी देखता हूँ।"

"कैसी पिक्चरें आपको ज्यादा पसन्द हैं, कौमेडी या ट्रेजिडी ?"

"ट्रेजिडी ज्यादा 'टच' करती हैं।"

"लेखक भावुक होते हैं न, इसीलिये।" उसने टिप्पणी की।

"अच्छा बताइये, किसकी ऐक्टिंग आपको ज्यादा पसन्द आई ?" उसने फिर हँसते हुए पूछा।

मैं सकुचा गया।

"बताइये न ! आपकी भी कोई हीरोइन या हीरो 'पेट' होगा ही ?"

मेरा संकोच बढ़ता गया। उसकी नजरों में नजर डाली, तो शर्म के मारे पछाड़ खाकर पलकें झुका लीं।

"अरे, आप तो शरमा गये। लो, हम अपना सवाल वापस लिये लेते हैं।"—

—वह खिलवाड़ करने लगी।

"जी नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं।"

"तो फिर बताइये।"

मैंने हिम्मत की और हकलाता हुआ-सा बोला, "ऐक्टिंग तो आपकी ही ज्यादा स्पर्श करती है।"

वह हँस पड़ी मानो उसे पहले से ही एहसास था कि मैं क्या उत्तर दूंगा।

"अच्छा बताइये—क्या खूबी देखी, आपने मेरी ऐक्टिंग में ?"

"उसमें छिछोरपन नहीं होता, गहराई होती है। आप मुँह से न बोल कर आँखों से भाव व्यक्त करती हैं।"

वह पुलकित-सी जान पड़ी—पर साथ ही वह 'सीरियस टॉक' पर आ गई।

"आपके उपन्यास की 'थीम' क्या है ?" उसने अब वार्ता में दिल-चस्पी लेना शुरू किया।

मैंने संक्षेप में उसे कहानी सुना दी और थोड़ा-सा पात्रों का भी चरित्र-चित्रण प्रस्तुत कर दिया।

संकुचित हँसी में मैं फिर बोल उठा, "नायिका की भूमिका के लिए आपसे उपयुक्त कोई दूसरी नही हो सकती।"

यह सुनकर वह खूब हँसी। बोली, "हमें दिल में बिठा रखा है आपने, ऐसा जान पड़ता है।"

मैं बेहद शरमा गया।

वह जब दिल खोल कर हँस चुकी तो बोली, "आप दो-तीन दिन बाद तशरीफ लाइयेगा। यदि हो सका तो मैं आपकी मदद करूँगी। मैं आपकी 'पेट हीरोयन' जो ठहरी, तभी तो मेरा सहारा ले बैठे।" वह मुस्करा रही थी।

"मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ।"

"ऐसा न सोचिये।"

"वास्तव में तब मैंने आपका नाम लेकर छल किया था।"

"ठीक है, पर अब हकीकत जाहिर करके आपने मुझ पर ऐहसान किया है।"

उसका उत्तर सुनकर मैं चकित था, पर वह मुस्करा रही थी।

"तब आप दूर से मेरी चकाचौंध पर शायद फिदा रहे हो, पर अब करीब आकर मुझ पर भरोसा कर बैठे। झूठ बोल रही हूँ क्या ?"

विमूढ़-सा मैं उसके शब्दों का ठीक अर्थ नही लगा पा रहा था।

"हैरत हो रही है न मेरी बातें सुनकर ?" वह मुस्कराई, पर फिर गम्भीर हो कर बोली, "इस चकाचौंध और छल-प्रपंच की दुनिया, में जहां एक-दूसरे को छलने में—चाहे वह छलावा प्यार-इश्क का हो या पैसों का, शानो-शौकत का हो या इल्मो-फन का; दिन का शोर नहीं सुनाई देता और रात की तनहाइयां कोई मायने नहीं रखतीं—वहां आप जैसे सीधे इन्सान से मुलाकात होने पर कुदरतन हमारे जैसों के अन्दर भी इन्सा-नियत लौट आती है। इन्हें आप जज़बात ही न समझें, हक़ीक़त कबूल करें।"

मैं अवाक्-सा हो चला। यकीन न कर सका कि ये शब्द वास्तव में आज मैं उस अभिनेत्री के मुंह से सुन रहा था—जिसे मैं धरती का जीव न समझ कर स्वर्ग की अप्सरा खयाल करता था। तो क्या इतने चोटी के इन्सानों के अन्दर भी हमारी जैसी अनुभूतियां और दिल होते हैं।

मैं बोला, "मेरे जैसे तुच्छ इन्सान के समक्ष आपने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, उससे मैं गौरवान्वित ही नहीं हुआ अपितु कृतज्ञ भी हूं। पर एक बात मेरी समझ में नहीं आई।"

"क्या ?"

"मुझमें ही क्या खूबी ऐसी आपने देखी कि इतना करीब समझने लगीं।"

वह बोली, "यही भोलापन तो है आपका जिसके साथ दुनिया खिल-वाड़ करती है पर हम जिसकी अन्दर से कद्र करते हैं।"

वह फिर बोली, "यह क्या आपका बेहद दर्जे का भोलापन नहीं था कि कहानी-लेखक होकर भी एक अनपढ़ शख्स की बातों पर यकीन कर बैठे ? और मजे की बात तो यह रही कि जब फँस गये तब भी बच्चों की तरह सच-सच बोलने लगे। हमला होने पर हर कोई बचाव करता है—आपने तो उल्टे पोशाक उतार दी।"

वह फिर खिलखिला कर हँस पड़ी और बोली, "बेअक्लों की दी इ... ...पर—यही थे न आपके लफ्ज ? बस, इन्हें ही सुनकर आप...

वह छूटते ही बोली, "मुझे आपका ही इन्तजार था। आपका उपन्यास वाकई बड़ा दिलचस्प लगा। और भी आप क्या लाये हैं?"

"जी नहीं। मैंने आपको बताया न था कि उपन्यास अभी तक एक ही लिख पाया हूँ।"

"उपन्यास न सही, 'आउट लाइन्ज' तो होंगी किसी स्टोरी की? बाकी ये लोग खुद 'डेवलेप' कर लेंगे।"

"जी हाँ, कहानियाँ तो वैसे चार-पाँच मेरे पास इस समय भी हैं।"

"तो चलिए, मैं कन्ट्रैक्ट करा दूँ।" कहते हुए उसने मुझे इशारा किया। थोड़ी ही देर में कार में बिठा कर वह मुझे एक बँगले पर ले आई।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि वह महाशय वही प्रोड्यूसर थे जिन्होंने कल बगैर पढ़े ही टिप्पणी दे दी थी।

उसने अभिनेत्री के साथ मेरा भी स्वागत किया और बड़ी शिष्टता के साथ बातें करने लग गया।

कन्ट्रैक्ट फार्म पहले ही से तैयार था। मुझे केवल हस्ताक्षर ही करने पड़े थे। मेरे हाथ में तीन हज़ार का चैक देते हुए वह बोला, "ताज्जुब है कि इतनी-सी छोटी उम्र में ही आप इतना कमाल हासिल कर गये हैं। आर्ट और तजुर्बा—दोनों बातें हैं आपकी किताब में।"

मैं तो केवल सोचता ही रहा कि वह कह क्या ... था पर वह अभिनेत्री मेरी ओर से भी उसके साथ बातें करती ज...

वहाँ से छुट्टी पाकर वह फिर मुझे एक अन्य ... के पास ले आई और जहाँ दो और कहानियों के बदले ... का चैक प्राप्त हो गया। मुझे दो-तीन दिन और बम्बई ... डाइरेक्टर और प्रोड्यूसरों से उस अभिनेत्री की ... का सिलसिला अभी समाप्त नहीं हुआ था। मेरी बाकी ... पाँच हज़ार रुपये के अतिरिक्त चैक से आई और इस ... बारह हज़ार रुपये हो गये। मैंने कल्पना भी नहीं की

?" कहता हुआ वह चला गया।
"ऐ मिस्टर ! क्यों तुमने साहब का 'मूड' बिगाड़ डाला।" उनमें से
क लड़की बोली।
"मैं तो उन्हें अपनी कहानी दिखाने आया था।" सहज भाव से उत्तर
दिया मैंने।
"दिखाने आये हो या कुछ 'फिक्स-अप' भी हो चुका है ?"
"नहीं, अभी तो कुछ नहीं। पसन्द करते तभी कुछ बात चलती।"
"कौन है वह ?" वह निःसंकोच मुस्कराई।
"क्या मतलब ?"
वह निर्लज्ज हो हँसती हुई आगे बढ़ गई।
मुझे वहाँ का वातावरण कुछ अजीब-सा लगा। एक घुटन-सी महसूस
की मैंने। शाम तक इसी प्रकार कोई अन्दर कमरे में जाता तो कोई कमरे
से बाहर आता। सबके चेहरों पर असन्तोष और थकान थी। अन्त में
प्रोड्यूसर भी बाहर निकले तो मैंने फिर रास्ता रोक लिया।
"कहानी के सम्बन्ध में आपसे बातें करनी थीं।" मैंने फिर निवेदन
किया।
"मुझे अफसोस है—तुम्हारी कहानी डायरेक्टर साहब को पसन्द
नहीं आई। मैं उनकी बात टाल नहीं सकता था। और अच्छी कहानी
लिखो और ज़रा उन्हें भी दिखा दिया करो।" मुस्कराते हुए वह बोले
और चल दिये। मैं भ्रान्त-सा, ठगा-सा उन्हें देखता ही रह गया। यह
सब क्या था ? कहानी मेरे बैग में बन्द थी और प्रोड्यूसर टिप्पणी देकर
उसे नापसन्द भी कर गया ! मुझे अब तनिक भी आशा न रही कि यों
प्रकार सिर खपाने से कोई लाभ होगा। यदि कहीं से कोई उम्मीद थी तो
उस अभिनेत्री के दिये हुए आश्वासन पर ही थी।
मैंने निश्चय कर लिया कि जो भी हो, अन्तिम रूप से प्रयत्न कर
ताकि बम्बई में रह कर यों तमाशा देखते हुए समय व्यर्थ नष्ट न करूँ।
... दोपहर बाद उस अभिनेत्री के बंगले पर पहुँच गया

वह छूटते ही बोली, "मुझे आपका ही इन्तजार था। आपका उपन्यास वाकई बड़ा दिलचस्प लगा। और भी आप क्या लाये हैं ?"

"जी नहीं। मैंने आपको बताया न था कि उपन्यास अभी तक एक ही लिख पाया हूँ।"

"उपन्यास न सही, 'आउट लाइन्ज' तो होंगी किसी स्टोरी की ? बाकी ये लोग खुद 'डेवलेप' कर लेंगे।"

"जी हाँ, कहानियाँ तो वैसे चार-पाँच मेरे पास इस समय भी हैं।"

"तो चलिए, मैं कंट्रैक्ट करा दूँ।" कहते हुए उसने मुझे इशारा किया। थोड़ी ही देर में कार में बिठा कर वह मुझे एक बंगले पर ले आई।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि यह महाशय वही प्रोड्यूसर थे जिन्होंने कल बग़ैर पढ़े ही टिप्पणी दे दी थी।

उसने अभिनेत्री के साथ मेरा भी स्वागत किया और बड़ी शिष्टता के साथ बातें करने लग गया।

कण्ट्रैक्ट फार्म पहले ही से तैयार था। मुझे केवल हस्ताक्षर ही करने पड़े थे। मेरे हाथ में तीन हज़ार का चैक देते हुए वह बोला, "ताज्जुब है कि इतनी-सी छोटी उम्र में ही आप इतना कमाल हासिल कर गये हैं। आर्ट और तजुर्बा—दोनों बातें हैं आपकी किताब में।"

मैं तो केवल सोचता ही रहा कि वह कह क्या रहा था पर वह अभिनेत्री मेरी ओर से भी उसके साथ बातें करती जाती थी।

वहाँ से छुट्टी पाकर वह फिर मुझे एक अन्य डायरेक्टर के पास ले आई और जहाँ दो और कहानियों के बदले मुझे चार हज़ार का चैक प्राप्त हो गया। मुझे दो-तीन दिन और बम्बई रुक जाना पड़ा, क्योंकि डाइरेक्टर और प्रोड्यूसरों से उस अभिनेत्री की मार्फ़त मेरी मुलाक़ातों का सिलसिला अभी समाप्त नहीं हुआ था। मेरी बाकी तीन कहानियाँ भी पाँच हज़ार रुपये के अतिरिक्त चैक से आईं और इस प्रकार मेरे पास पूरे बारह हज़ार रुपये हो गये। मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मेरी माया

इतनी सफल रहेगी। वेला को मैंने सब समाचार डाक से भेज दिये और उत्तर में उसने प्रस्ताव किया था कि मैं हवाई जहाज से तुरन्त दिल्ली के लिये प्रस्थान करूँ जहाँ उत्सुकता से वह मेरी प्रतीक्षा कर रही थी।

मैं विदा लेने ठाट के साथ अभिनेत्री के बंगले पर पहुंचा।

"मैं आपको कभी भूल न सकूंगा।" मैं बोला।

"आप ऐहसान लेने आये हैं न ? आखिर आपने चोट पहुंचा ही दी मेरे दिल को।"

मैं घबरा-सा गया।

वह बोली, "जो कुछ भी मैंने किया, वह अपनी तसल्ली के लिये ही किया। लोग धर्मशालाएँ और मन्दिर बनवाते हैं जिनमें अपनी जेब से पैसा लगता है। मैंने तो उतना भी नहीं किया।"

मैं श्रद्धा से ओत-प्रोत हो उठा, उसकी बात सुनकर।

"यह पिन बिल्कुल नया मालूम पड़ता है। चैक केश करा लिया शायद ?"

वह मुस्कराई।

"जी नहीं, यह पहले से ही मेरे पास था।"

"बड़ा खूबसूरत है।"

मैं हंस दिया।

उससे विदा लेकर मैंने हवाई जहाज में सीट बुक कराई और फिर वेला को तार किया कि मैं अगले दिन शाम के ५ बजे हवाई जहाज से दिल्ली पहुंच रहा हूं। रात को मैंने ताजमहल में भोजन किया—लिबर्टी में रात को 'शो' देखा और सोने वापस अपने होटल में चला आया। सुबह जू, मैरीन ड्राइव, मालाबार हिल्स—आदि स्थानों का चक्कर काट कर मैंने वेला के लिये दो बढ़िया किस्म की साड़ियां और एक पर्स, जिस पर बाहर से मोतियों की कढ़ाई भी जड़ी हुई थी, खरीदी और होटल में लौट कर उन्हें सूटकेस में पैक कर दिया। अपनी डायरी, एग्रीमेंट के फॉर्म, चैक और एक फोटो भी जो मैंने बम्बई जाकर खिचवाई थी तथा

जिसमें मेरा टाई-पिन बहुत उभरा हुआ आया था, सब सूटकेस में बन्द कर दिये। दोपहर में एक बजे जहाज बम्बई से रवाना हुआ।

हवाई जहाज की यह मेरी पहली यात्रा थी। मैं अब उड़ रहा था। नीचे धरती खिसकती हुई-सी प्रतीत होती थी। सब कुछ अनोखा-अनोखा-सा रहा था। शायद इस लिये कि मन भी गुब्बारे की तरह कल्पना की उड़ानें ले रहा था। इतना भाग्यशाली मैंने कभी भी अपने को अनुभव नहीं किया था। मेरे सूटकेस में कम नहीं, पूरे दस हजार के चैक थे, जिन्हें नौकरी में मैं तीन साल से भी अधिक समय में नहीं कमा सकता था। मैं हवाई जहाज में बैठा हुआ ऊँची श्रेणी के व्यक्तियों की भाँति यात्रा कर रहा था। कुछ ही घण्टों के बाद विलिंग्डन ऐरोड्रोम पर बेला, सहेलियों के साथ मेरा स्वागत करती हुई दिखाई देगी। सम्भवतः शर्मा जी भी हों। अब तो सभी होंगे। मैं कोई तीसरे दर्जे के डिब्बे में थोड़े ही सफर कर रहा था। चित्रपट की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का आतिथ्य पा कर उड़ता हुआ दिल्ली पहुँच रहा था। कुछ ही दिनों बाद सारे देश में मेरी ख्याति होने वाली थी। सम्भवतः युवतियों की विशेष दृष्टि से सुरक्षित रखने [illegible] बेला मुझे घर से बाहर ही नहीं निकलने दे। कहेगी कि मैं अब घर पर [illegible] कर ही साहित्य-साधना करूँ। आखिर स्त्री स्त्री ही [illegible] हों, अपने पति को वे दूसरी कामुक दृष्टियों का शिकार [illegible] नहीं करेंगी। मैंने खिड़की से बाहर झाँका तो हवाई जहाज को [illegible] के ऊपर उड़ता हुआ पाया। [illegible] फिर सोचने लगा कि अब थोड़ा ही [illegible] मुझे देखेगी, फिर मुस्करायेगी, फिर [illegible] फिर पलकों पर बिठा कर घर ले जायेगी। [illegible] थे! सोचता ही जा रहा था कि [illegible] आग की लपटें उठती हुई दिखाई दीं। [illegible] मन से काँप उठे। [illegible] प्रतिक्रिया [illegible]

महसूस हुआ।

फिर क्या हुआ, मुझे कुछ पता नहीं क्योंकि पहाड़ की एक ढलान पर एक पेड़ के सहारे झूलता हुआ-सा मैंने अपने को पाया। मैं खून से भीगा हुआ था। मेरी आँखें खुल नहीं पा रही थीं। केवल इतना ही मैंने महसूस किया कि कोई मुझे कन्धे पर उठा कर ले जा रहा था। मैं शायद थोड़ा होश में था पर उसके बाद फिर मेरी आँखों के सामने अँधेरा फैलता गया और मैं संज्ञाहीन हो चला। मुझे कुछ पता नहीं कि कितने दिन मैं उस बेहोशी की हालत में रहा। जब होश आया और मैंने आँख खोली तो अपने को एक मिट्टी के फर्श पर बिछे टाट पर पाया। टाट के नीचे घास-फूस का एक बिछौना लगा हुआ था। चारों ओर लकड़ी के मचान बने हुए थे और उन पर घास-फूस का ही मानो पलस्तर किया गया था, ताकि लकड़ी की बनी हुई उन दीवारों के छेदों से हवा के झोंके अन्दर न आ सकें और धूप-वर्षा से भी कुछ सुरक्षा हो। अन्दर एक कोने में पानी का एक बड़ा मटका और मिट्टी के ही बने हुए कुछ बर्तन पड़े थे। चींटियों की पंक्तियाँ भी दिखाई दीं जो देहली पर बिखरे हुए बटेर के पंखों को उठा कर ले जा रही थीं।

मैंने उठने का प्रयत्न किया तो लगा कि मेरी हड्डी-पसली मानो सब टूट चुकी हों। दर्द से चिल्लाता हुआ मैं फिर बेहोश हो गया। जब दूसरी बार मैं होश में आया तो वातावरण को घने अंधकार की चादर में लिपटे हुए पाया। उस घास-फूस के कमरे में एक ओर गोंद की भाँति किसी चीज को जलते हुए देखा, जिससे बेहद धुंआ उठ रहा था पर जो दिये की पूर्ति कर रहा था। मैंने जरा सिर उठाया तो डर के मारे चीख उठा। अपने सिरहाने मैंने एक छाया को मँडराते हुए पाया। उसकी हँसी में मुझे एक क्रूर अट्टहास-सा सुनाई दिया।

मैं अपनी हालत का अन्दाजा लगाना चाहता था कि मैं कहाँ और किस स्थिति में हूँ पर तभी फिर मुझे आश्चर्य का झटका-सा लगा। मैंने देखा कि उस घास-फूस के बिस्तरे पर मैं

मेरे पैरों से लेकर छाती तक किसी घिनौने से द्रव्य का लेप किया हुआ था जिसकी भयानक दुर्गन्ध मेरे शरीर से आ रही थी।

वह आकृति फिर हँसी और सिरहाने से उठ कर मेरी बगल के समीप बैठ गई।

मैं फिर भय के मारे चीख उठा पर उसका हाथ मेरे मुँह पर आ गया। उसके दाँत बाहर निकल आये और आँखों में भी मानो कोई केंकड़ा डोल गया। उसने कुछ कहा, पर मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मैं कुछ पूछता भी, पर पूछना व्यर्थ समझा क्योंकि न तो वह मेरी बोली समझ सकती थी और न मुझे ही उसके अट्टहासों का अर्थ समझ में आ सकता था।

वह फिर उठी और घास-फूस के बीच से उसने एक लकड़ी का पिंजरा निकाला जिसमें दो-तीन जंगली मुर्गे बन्द थे। एक मुर्गे को निकाल कर उसने पास पड़े खंजर से मार डाला। फिर लकड़ी जला कर उसने आग तैयार की और उस मुर्गे को भून कर खाने लगी।

यह देख कर मैं दंग रह गया और भयभीत हो उठा। आधा मुर्गा खाने के पश्चात् उसने दो-तीन कुल्हड़ पानी पीया जो एक बड़े से मटके में भरा था और फिर आधे मुर्गे को उठा कर बाहर चली गई।

वह द्रव पदार्थ एक-दो घन्टे के बाद जलता और धूआँ छोड़ता हुआ अन्त में क्षीण हो गया और कमरा फिर गहन तिमिर में डूब गया। वातावरण नीरस और सुनसान था। कभी-कभी गीदड़ या बरगोशों के रोने की आवाज आ रही थी या फिर एक बार चीते के गुर्राने का-सा स्वर सुनाई पड़ा।

उस सारी पीड़ा में भी मैं अपने को भूल गया था। सचेत होते हुए भी लगता था कि मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ। इतना मैंने अनुमान लगा ही लिया था कि मैं किसी बीहड़ वन में मानवीय सभ्यता से दूर जंगली पशुओं का पड़ोसी बन कर उस मानव-देहधारी जीव का आतिथ्य प्राप्त कर रहा था जिसके भैंस के समान स्थूल स्तनों को देख कर मैं अनुमान

गा पाया था कि वह मादा अथवा स्त्री है।

मैं बुरी तरह घायल था पर फिर भी मेरी इन्द्रियाँ चेतन थीं। तनिक-सा शब्द सुनाई पड़ने पर चक्की की भाँति मेरा मन दौड़ने लग जाता था कि उस शब्द का पीछा करे।

तभी मुझे एक भयंकर चीत्कार सुनाई दी—निर्जन बीहड़ वन में मनुष्य का-सा रुदन का स्वर!

मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

यह स्वर उस स्त्री का भी नहीं हो सकता था क्योंकि आवाज पुरुष-कण्ठ से निकली हुई लगती थी। वह आर्तनाद कुछ क्षण तक आता रहा। फिर उस शोर को मानो खामोशी पी गई और वातावरण पूर्वतः शान्त और नीरव हो चला।

मेरी हालत में उत्तरोत्तर सुधार हो रहा था। वह जंगली स्त्री नित्य मेरी देह पर उस दुर्गन्धमय लेप का पोत करती। वह दिन में खाने के लिये पहले तो केवल कुछ जंगली फल रखती रही, पर बाद में बटेर-मुर्गा और दूसरे जानवरों का भुना हुआ मांस भी देने लगी।

करीब दो-तीन माह में मैं इस योग्य हो गया कि बाहर-भीतर आ-जा सकूं। ज्यादा चलने की अभी शक्ति प्राप्त नहीं कर सका था।

मैंने देखा कि चारों ओर पहाड़ ही पहाड़ थे। कहीं आस-पास कोई बस्ती नहीं थी। जंगल-ही-जंगल था। उन जंगलों में छुपा हुआ कोई घर या बस्ती हो तो उसे ईश्वर ही जानता था।

मैंने देखा कि उस झोंपड़ी में केवल वही कमरा नहीं था जहाँ अकेला मैं रहता था, अपितु तीन-चार बड़े-बड़े कमरे और थे जहाँ कुछ बकरियाँ और कुत्ते रस्सियों से खूंटों पर बंधे थे। वह स्त्री दिन में पता नहीं, कह चली जाती थी। शायद मेरे लिए फल और गोश्त का प्रबन्ध करने जात हो। मैं उन कमरों की ओर जाता तो कुत्ते जोर से भोंकना शुरू कर दे और इसी प्रकार बकरियाँ भी 'मैं-मैं' कर वातावरण की नीरवता को भं कर देतीं।

मैंने देखा कि कोठरी से सटा हुआ एक मकान और था जहाँ एक गिद्ध एक विशाल पिंजरे में बन्द था। वह पिंजरा अच्छी तरह मोटे रस्सों से कसा हुआ था ताकि कोई जंगली जानवर उसे खोल न सके।

मैं दिन में [illegible] की एक चट्टान पर या फिर कॉटेज की दहलीज पर बैठे हुए, गाँव के पास जा कर बैठ जाता और कॉटेज की याद कर आँसू बहाया करता। नाना और मामा के एक ऐसे घेरे के अन्दर बन्द, पूर्व-जन्म के पापों का प्रायश्चित्त करता रहता, जिस से बाहर आने की कोशिशें मुझे नर-कंकाल-मात्र बना रखती थीं। मैं अब भी भूले हुए गाँव का आकार या कल्पना-मात्र मन का कर निर्माण कर रहा था। मेरी दाढ़ी-मूँछ और सिर के बाल इतने बढ़ गये थे कि मैं रीछ-सा दिखाई देने लगा था। मैं जब आया था तब सूट और पतलून पहने रहता था जिसे पहन कर मैंने बम्बई से प्रस्थान किया था और जो हवाई जहाज की दुर्घटना में बुरी तरह फट गया था। तन ढकने के लिये अब भी वह पर्याप्त थी और विशेषतः जाड़े की ऋतु में।

१०-१२ माह इसी प्रकार गुजर गये। बहुतेरी ऐसी वेदना और ज्ञान-शक्ति आ गई अन्दर [illegible] न तो मुझको यहाँ कोई बोलने वाला था और न वह वातावरण ही जिसमें रहने का मैं अभ्यस्त था। मैं अब [illegible] था। मुझे कॉटेज की याद आती पर अब उसकी याद में मेरी आँखों से आँसू बहने बन्द हो गये थे। मैंने तय किया कि वह कॉटेज कहीं-कहीं एक [illegible] से, जिसके चारों [illegible] [illegible] और [illegible] था, [illegible] की [illegible] और [illegible] में जा कर [illegible], तो [illegible] की जो [illegible] [illegible] पर बनी हुई होती, वह दूर कर [illegible] हो जाती थी। [illegible] किया और मुझे पता चल गया कि वह हरे-भरे [illegible] [illegible] [illegible] के, जो मानुष से होते हैं। [illegible] पर [illegible] कर [illegible] के काट [illegible]

इसी प्रकार एक वर्ष बीत गया। अब

वर्षा ऋतु समाप्त हो गई थी। अब फिर निरन्तर वर्षा के बाद आसमान साफ रहने लगा तो मेरे लिए अनुमान लगाना कठिन न था कि एक वर्ष की अवधि मैंने उन कुत्तों और बकरियों के साथ उस अनजान प्रदेश में व्यतीत कर दी थी।

अब मैं नित्य गोश्त और फलों का आहार प्राप्त कर आदि-मानव का प्राकृतिक जीवन बिताता हुआ जानवर-सा बन गया था। देह मांसल, खुरदरी और सख्त हो गई थी। मन के किसी कोने में एक लक्ष्य फिर भी छिपा हुआ था कि किसी तरह मनुष्यों का संसार फिर से देख पाऊँ। मन में छिपे हुए इस संकल्प को क्रियात्मक रूप देने में मैं अपने को असमर्थ पाता। एक रात पहाड़ों की चोटियाँ शरद की चांदनी में नहाई हुई थीं। सर्वत्र सन्नाटा था। मैं अपने कमरे में सोया हुआ था कि कहीं से मुझे फिर मनुष्य का चीत्कार सुनाई दिया। अब मैं हृष्ट-पुष्ट और जंगल में रहने का अभ्यस्त हो गया था। अतः चेतन हो बिस्तर छोड़ सहमे हुए पग बढ़ाता हुआ उस ओर चल पड़ा, जहाँ से वह चीत्कार सुनाई पड़ी थी। मैं अभी बहुत दूर नहीं गया था कि मुझे ऐसा भयानक दृश्य दिखाई दिया कि स्वप्न में भी उसकी कल्पना मेरे लिए सम्भव न थी। मेरे रोंगटे खड़े हो गये। भयभीत हो मैं कांपने लगा। एक चट्टान पर मुझसे भी ज्यादा बीभत्स जटाधारी वनमानुष पर वह पिशाचिनी जिसका मैं एक वर्ष से आतिथ्य प्राप्त कर रहा था, मोटी लट्ठी से प्रहार करती हुई कुछ बोलती जा रही थी। उस वनमानुष के मुंह से निकले हुए शब्दों को सुन कर भी मुझे आश्चर्य हुआ। वह वनमानुष नहीं—मनुष्य ही था, सम्भवतः मेरी ही तरह। वह गिड़गिड़ा रहा था, याचना कर रहा था अथवा असमर्थता प्रकट कर रहा था—मैं ठीक से अनुमान न लगा पाया, क्योंकि रुदन करने के कारण उसके शब्द अस्पष्ट थे। काफी प्रताड़ना के बाद उसका गिड़गिड़ाना समाप्त हुआ और तब मैंने देखा कि वह औरत उस मनुष्य की देह पर किसी तेल-जैसी वस्तु की मालिश कर रही थी। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था पर आगे जो कुछ देखा, उससे समझना फिर शेष

भी न रहा। नग्न होकर उस पिशाचिनी ने उस मनुष्य को अपने बाहुपाश में कस लिया था। वह मनुष्य पशुओं की भाँति उस पिशाचिनी के प्रत्यंगों को कुचलता हुआ अन्त में सम्भोग क्रिया में रत हो गया।

कुछ देर बाद वे दोनों उस क्रिया से निवृत्त हुए तो वह दैत्यनी किसी धागे से उस मनुष्य का मानो माप लेने लग गई। कुछ क्षण भी नहीं बीते होंगे कि वहाँ पर उस मनुष्य के स्थान पर एक बकरा मिमिया रहा था। मेरा आश्चर्य और भय, अब चरम सीमा पर पहुँच गया था। उस औरत का वास्तविक भेद अब मुझसे छिपा न रहा। वह चुड़ैल कोई जादूगरनी थी। तो क्या जितने भी बकरे और कुत्ते मैंने झोंपड़ी में बंधे देखे थे, सबका वास्तविक रूप कुछ और ही था? मेरे समक्ष कई प्रश्न, कई कल्पनाएँ मूर्तिमान हो उठीं। पशु जैसा जीवन अपना कर भी अभी मनुष्य की चिन्तन शक्ति मेरे अन्दर शेष थी, बल्कि उस रोमांचकारी दृश्य को देख कर, वह चेतन हो उठी। मेरे अन्दर गति आ गई। आगे बढ़ कर मैं उस जादूगरनी पर टूट पड़ा। चट्टान पर पटककर मैंने पूरी शक्ति के साथ उसका गला भींचना शुरू किया। मुझे विश्वास था कि उसके प्राण निकल गये होंगे पर उसका बाल भी बाँका न हुआ था। उल्टे उठते ही उसने धागे से मेरा भी नाप लिया और मैं चेतना गवाँ बैठा क्योंकि तब मैं मनुष्य से बकरे में परिणत कर दिया गया था। उसके बाद मुझे कुछ याद नहीं कि कितनी लम्बी अवधि तक मैं बकरा बनकर उस चाण्डाली की कैद में रहा। केवल वे क्षण ही याद हैं जब मनुष्य का रूप दे कर वह मुझसे भी वही क्रिया सम्पादित कराती थी, जिसका मैं उल्लेख कर चुका हूँ। मनुष्य रूप प्राप्त कर मेरी चेतना वापस लौटती थी और अपने नारकीय जीवन की अनुभूति पर मेरी अश्रुधारा छूट पड़ती थी। पर मेरा रुदन और करुण चीत्कार शून्य मे गूँज कर रह जाता था। बलात् हमें वही करना पड़ता था जो वह चाहती थी। संकोच और विलम्ब उसे असह्य था और इसलिये प्रतिरोध करने पर वह यातनाएँ देती थी। यह मेरी अकेले की दास्तान नहीं, उन सभी व्यक्तियों की

बकरी बन कर जी रहे थे तथा जिन्हें मनुष्य रूप केवल उन कुछ क्षणों के लिये प्राप्त होता था, जिनमें वह पिशाचिनी अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिये उनका उपभोग करती थी। मैं सोचता हूँ कि उस नारकीय जीवन की अधिकांश अवधि पशु के रूप में व्यतीत करने से एक लाभ अवश्य हमें रहा और वह यह कि जो मानसिक संताप मनुष्य बन जाने पर हमें अनुभव होता, पशु बनने पर उससे हम मुक्त रहते।

उस जादूगरनी ने मनुष्य की देह तो पाई थी, पर थी वह पिशाचिन ही—पूरी नर-प्रेत! कभी-कभी जब मैं मनुष्य की देह प्राप्त करता तो अपने अतिरिक्त अन्य दो-तीन साथियों को भी मनुष्य की देह प्राप्त किये हुए पाता जिनके साथ लम्बे समय तक वह काम-क्रीड़ा में रत रहती। एक दिन उसका अति विकराल रूप देखने को मिला। एक साथ तीन व्यक्तियों को उसने मनुष्य की देह दी, जिनमें से एक मैं भी था। वह उसी चट्टान के पास एक मटके से कुल्हड़ भर-भर कर पानी निकालती और पीती जाती थी। शायद वह जल न होकर कोई मादक रस ही था, तभी तो वह उछल-उछल कर ताण्डव-सा नृत्य कर रही थी।

हममें से एक को फिर उसने अपनी भुजाओं में समेट लिया और क्रीड़ा रत हो गई। जादूगरनी को नशे में चूर देख मैं सहमी हुई आवाज में अपने दूसरे साथी से बोला, "तुम कबसे इस नरक में हो?"

पर तुरन्त ही मैंने अपनी भूल महसूस कर ली। बकरे का जीवन व्यतीत करते हुए मेरी भांति वह भी तो कुछ ही क्षणों के लिये मनुष्य की देह प्राप्त करता था। अस्तु, अचेतन-अवस्था में व्यतीत समय का कैसे उसे ज्ञान होता? पर वह बोला, "जब मैं इसके चंगुल में फँसा था, तब मेरी आयु १८ वर्ष की थी। तब दाढ़ी और मूँछ पूरी तरह नहीं उग पाई थी। जुलाई सन् २५ का समय था। देश में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह हो रहा था। अपने कालेज के छात्रों का नेतृत्व करते हुए मैंने कई पोस्ट आफिस जला डाले थे एवं इसी प्रकार की विध्वंसक कार्रवाई करने के अभियोग में पुलिस मेरे पीछे लगी हुई थी। उसी समय, छुपते छिपाते मैं

इस जंगल में आ निकला। तब क्या पता था कि इस जादूगरनी के चंगुल में फँस जाऊँगा, वरना फाँसी की सजा स्वीकार न कर लेता।"

"ओह! तो तुम्हें आये तब चौदह वर्ष हो चुके थे, जब मैं यहाँ आया।" वह विस्फारित दृष्टि से मुझे देखने लगा और बोला "तब क्या देश अंग्रेजों के ही आधीन था?"

मेरी आँखें आँसुओं से तर हो गई। बोला, "तब दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया था।"

वह बोला, "दूसरा विश्वयुद्ध? लेकिन आजादी का क्या हुआ?"

मैं बोला, "इन बातों को छोड़ो। इतिहास में उसमें कई अध्याय और जुड़ गये हैं, जिसका उल्लेख करने से अब कोई लाभ नहीं।"

वह व्यथित हो बोला, "वर्षों का पशु-जीवन मेरी चेतना और स्मरण-शक्ति को नष्ट न कर सका, आश्चर्य है!"

"तुमने अभी बताया न कि तुम पढ़ते थे?"

"हाँ, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का छात्र था।"

"तुमने किस जगह से इस जंगल में प्रवेश किया था?"

"मिर्जापुर के दक्षिण से।"

पर जिस विमान में मैं यात्रा कर रहा था वह तो शायद विन्ध्याचल या सतपुड़ा की पहाड़ियों पर गिरा था।

कुछ समय हम चुप रहे। थोड़े ही गज के फासले पर जादूगरनी की क्रिया जारी थी। मैंने फिर उससे पूछा, "यहाँ से निकल भागने का कोई उपाय नहीं है क्या?"

"तभी हो सकता है जब पशु-देह से वह हमें कुछ समय मुक्त रखे।"

"लेकिन इसकी हम इसी समय हत्या क्यों न कर दें?"

"यह प्रयास भी कर चुका हूँ। उस पर कुछ असर नहीं होता। वरना वह कभी की चीते का शिकार हो गई होती।"

"यह क्या तेज भाग सकती है कि हमारा पीछा कर ले?"

"उसे अवश्य कोई शक्ति प्राप्त है। तुम कहीं भी हो, उसकी द

नहीं बच सकते ।"

मैं बोला, "एक बात समझ में नहीं आई कि मुझे उसने एक वर्ष तक क्यों मनुष्य-देह में ही रखा ?"

"तुम शायद रोगी रहे होगे या निर्बल । वह हमारे स्वास्थ्य का पूरा खयाल रखती है ।"—और कोई समय होता तो मैं हँस पड़ता, पर इस समय मैं चुप ही रहा ।

फिर क्या देखता हूँ कि उस पिशाचिनी ने क्रीड़ारत उस व्यक्ति पर जोर से लात का प्रहार कर उसे एक ओर लुढ़का दिया और मेरे साथ बात करते हुए व्यक्ति को खींच कर उसी प्रकार क्रीड़ा में निमग्न हो गई ।

जो व्यक्ति निपट चुका था, थका-सा मेरे पास आकर बैठ गया ।

मैंने पूछा, "तुम्हें क्यों भगा दिया उसने ?"

"मैं निस्तेज हो चुका हूँ । आज वह बेहोशी में है । शायद इसके बाद तुम्हारी बारी आये । तभी तृप्त हो पायेगी वह ।"

"तुम्हें कुछ मालूम है, इस जादूगरनी की शक्ति का रहस्य ?"

"केवल इतना ही जानता हूँ कि इसके पास सिद्ध किये हुए दो प्रकार के धागे हैं । सफेद रंग के धागे के स्पर्श से हमें वह पशु बना लेती है और खून में रँगे हुए धागे से फिर मनुष्य ।"

"सफेद धागे से पशु बनाते हुए तो मैंने भी देखा है पर लाल धागे का रहस्य कैसे तुम्हें पता चला ?"

"जब मेरे बाद तुम दोनों को आज उसने मनुष्य-देह दी ।"

हम अभी बातें कर ही रहे थे कि अचानक झोंपड़ी के पास मचान पर रखे हुए विशाल पिंजरे में बन्द उस गिद्ध के पंखों की जोर की फड़-फड़ाने की आवाज हुई और भयानक रूप से हुरूड़-हुरूड़ का स्वर ।

वह जादूगरनी, हमारे उस साथी को जो उस को काम-सुख दे रहा था, एक ओर पटक कर विद्युत-गति से उस पिंजरे की ओर भाग गई । हम अचम्भित और अवाक थे । फिर जिज्ञासा शान्त करने तुरन्त मैं भी उस ओर दौड़ गया । मचान के समीप एक पेड़ की आड़ में खड़ा

हो कर मैंने देखा कि मचान में एक काला अजगर फन उठाये पिंजरे के सामने गर्दन हिला रहा था। जादूगरनी लपक कर मचान पर चढ़ गई। उसके हाथ में वही खंजर था जिससे वह मुर्ग-बटेर काटती थी। उसने अजगर पर खंजर का वार किया। अजगर ने उसे अपनी गुंजल में लेकर पूरी तरह जकड़ लिया और शरीर के कई स्थानों पर डस दिया पर वह मूर्छित नहीं हुई अपितु अजगर पर वार करती ही चली गई। अजगर का फन कट कर अलग जा गिरा पर बाकी हिस्से की ऐंठ, जिसमें वह जादूगरनी जकड़ी हुई थी; कम नहीं हुई। मरोड़ बढ़ती गई और अन्त में उसी तरह अजगर की पूँछ से जकड़ी हुई जादूगरनी मचान के नीचे गिर पड़ी। मैं कुछ न समझ पाया था कि उस विशाल घिनौने वृद्ध गिद्ध की रक्षा करने के लिए जादूगरनी काम-क्रिया छोड़ कर घबराई हुई यों विद्युत की भाँति क्यों चली आई थी। मेरे मस्तिष्क में अकस्मात एक विचार कौंध गया। सम्भवतः उस दयालु परमेश्वर ने ही हमारे दुखों से द्रवित हो मुझे यह बुद्धि दी कि हो न हो, उस वृद्ध गिद्ध से उस पिशाचिनी की शक्ति का कोई सम्बन्ध है। मैंने तनिक भी समय नष्ट करना उचित न समझा। उछल कर मचान पर चढ़ गया और उसी खंजर से पिंजरे के छेदों में से गिद्ध पर एक भीषण वार किया। उसका एक पंख कट गया और खून बहने लगा तो यह देख कर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही कि जादूगरनी की छाती से भी तब उसी प्रकार रक्त बहने लगा था।

वह भीषण अट्टहास करती हुई हाथ-पाँव मार रही थी पर अजगर की पूँछ उसे अभी वैसे ही जकड़े हुई थी। मैंने अन्य दो साथियों को पुकारा और बोला कि झोंपड़ी के अन्दर जो तरल-सा द्रव्य पड़ा है—उसे इस मचान पर पोत कर वे तुरन्त इसमें आग लगा दें ताकि पिंजरे के सहित गिद्ध भस्म हो जाये।

वे किंकर्तव्यमूढ़ थे, पर मेरे चिल्लाने पर वे सक्रिय हो उठे। वे क्षण मेरे लिये शायद जीवन में इतने कीमती कभी भी नहीं थे। हम सब उस ... जीवन और मृत्यु के संघर्ष में जूझे हुए थे। वह जादूगरनी अपने

गर की गिरफ्त से छुड़ाने का जी-जान से प्रयत्न कर रही थी। जब उसकी एक टाँग मुक्त हो गई तो मैं काँप उठा। मेरे साथी उस विशेष द्रव्य को मचान पर पोत रहे थे। उनमें से एक बोला, "आग किस चीज से पैदा की जाय।"

"दो चमकते हुए पत्थर भी वहीं कहीं झोंपड़ी में होंगे, उनके बीच एक विशेष प्रकार की रुई को रख कर उन पत्थरों को रगड़ने से वह रुई आग पकड़ लेगी। बस उस रुई को तुम मचान की पोती हुई लकड़ी पर लगाओ तो ज्वाला पैदा हो जायेगी।" मैं बोला।

वे फिर झोंपड़ी की ओर भाग गये। मैं पिंजरे के छेदों से खंजर घुसा कर गिद्ध को घायल करता जाता तो वह पिशाचिनी चीखें मारती हुई अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करती जाती। उसकी दोनों टाँगें अब मुक्त हो चुकी थीं। मुझे अपने साथियों पर क्रोध आ रहा था कि वे विलम्ब पर विलम्ब कर रहे थे। बचने की आशा क्षीण हो चली थी। वह क्रोध में फुफकारती हुई देह से रक्त की धार छोड़ती हुई मचान की ओर बढ़ी कि तभी मैंने बिना लक्ष्य किये खंजर से गिद्ध पर एक भीषण प्रहार किया।

जादूगरनी लड़खड़ाती हुई भूमि पर गिर पड़ी। गिद्ध की टाँगें टूट गई थीं। मैं मचान से कूद पड़ा। मुझे विश्वास हो गया था कि अब वह मचान पर नहीं चढ़ सकती थी। बस, अब एक ही बात से सतर्क रहने की आवश्यकता थी और वह यह कि उसका स्पर्श न हो, वरना वह हमें धागे के स्पर्श से पशु बना सकती थी। मेरे मित्र उस विशेष प्रकार की रुई को जला कर लाये तो मैं बोला, "वह मचान की जड़ पर टूटी हुई टाँगें ले कर बैठी हुई हैं। मचान की लकड़ियों पर रुई से आग लगाना खतरे से खाली नहीं। वहाँ मत जाओ।"

एक बोला, "अब यह हमारा पीछा नहीं कर सकती। क्यों न भाग चला जाये।"

"लेकिन उनका क्या होगा जो खूँटे से बँधे मिमिया रहे हैं?" मैंने

पूछा।

"हां, जादू के धागे तो उसी के पास हैं। सम्भवत: कोई और शक्ति भी उसके पास हो जिससे वह फिर हमारे ऊपर कोई विपत्ति ले आये।" तीसरा साथी बोला।

मैं बोला, "इस झोंपड़ी को तोड़ कर इसकी सारी घास-फूस मचान के चारों ओर रख फिर आग लगा देते हैं। आग की चिनगारियां और लपटें मचान की लकड़ियों को छू ही लेंगी।"

हमने फिर वैसा ही किया।

रात के समय उस जंगल में मचान की ओर से आग की लपटें लपकीं। जादूगरनी पर उन लपटों का कोई असर नहीं हो रहा था। वह हाथ फूंक कर आग बुझाने का असफल प्रयास कर रही थी। पर जब आग की लपटें पिंजरे तक पहुंच गई तो जादूगरनी भी झुलसते-झुलसते आखिर राख की ढेरी बन गई।

हम सब उस नारकीय जीवन से मुक्ति पा चुके थे।

पर तभी एक साथी का मुंह खुला। वह बोला, "लेकिन वे धागे?"

हम सब पर मानो वज्रपात-सा हो गया और हमारी उन साथियों की मुक्ति दिलाने की आशाओं पर तुषारपात हो गया जो कुत्ते-बकरी बने हुए उतनी बड़ी घटना के घट जाने के प्रति अनभिज्ञ थे।

"यदि मनुष्य की देह प्राप्त करने में हम उनके सहायक न बन सकें तो कम-से-कम उन्हें इस नरक से तो मुक्त कर दें।" एक बोला।

"कैसे?"

"उनका वध करना उन्हें जीवित रखने से श्रेयस्कर होगा।"

हम विचार करते हुए उसी चट्टान पर आ कर रुक गये, जहां उस पिशाचिनी ने अपना विलास-स्थान बना रखा था।

अचानक मेरे एक साथी ने उन धागों को भूमि पर बिखरा पाया तो हम सब खुशी से झूम उठे।

कुछ क्षणों के बाद तीन के स्थान पर उस बीहड़ वन में मनुष्य-देह-

धारी सैंतीस नग्न व्यक्ति खड़े थे। उनमें से एक तब बन्दी बना लिया गया था, जब बिहार में भूकम्प आया था। तीन सज्जन पंजाबी थे जो उसी साल यहां फंसे जिस साल रावी के किनारे जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया था। एक उनमें से वह नवयुवक निकला जो १९४२ की क्रान्ति में रेल की पटरियां उखाड़ते हुए पकड़ा गया था पर जो किसी तरह बच कर इन पहाड़ियों की ओर भाग आया था।

"ओह !" मैं क्षोभ से कराह उठा। तीन साल के बन्दी जीवन की तो पुष्टि हो चुकी थी। तब इस समय जाने कौन-सा सन चल रहा होगा—यही जानने की उत्कण्ठा शेष थी।

हम सब निर्वस्त्र थे। सबकी आकृतियाँ इतनी भिन्न थीं कि यदि सभ्य मनुष्य जीवन व्यतीत करते समय ऐसी आकृतियां हमें देखने को मिलती तो शायद मूर्छा आ जाती। मैंने अनुभव किया कि यदि परिवर्तित नहीं हुआ था तो वह था हमारा कण्ठ स्वर।

हमने उन घास-फूस के बने हुए बिस्तरों को फाड़ डाला जिन पर टाट के खोल चढ़े हुए थे और फिर टाटों के ३७ टुकड़े कर लिए ताकि उनसे अपनी नग्नता ढंक सकें।

१४-१५ दिन तक जंगलों के अन्दर कांटेदार झाड़ियां, अंधेरे और दुर्गम चट्टानों को पार करते हुए अन्त में हम ऐसी जगह पहुंच गये, जहां पर पहाड़ियां समाप्त हो समतल भूमि शुरू हो गई थी। "हम अब मिर्जापुर के समीप हैं।" वही साथी बोला, जो कभी इलाहाबाद-विश्वविद्यालय का छात्र रह चुका था। सबकी देहों में फिर से मानो नया प्राण-संचार हुआ। आखिर फिर उसी दुनिया में हम सब पहुंच गये थे, जिससे वर्षों तक हमारा सम्बन्ध-विच्छेद रहा। मिर्जापुर आकर पशु-जीवन काल के हम सैंतीस साथी अपनी-अपनी मंजिलों को फिर से ढूंढ़ने को अलग हो गये। तब मार्च का महीना था और सन् १९४४, यानी मैंने हिसाब लगाया तो पता चला कि मैंने पूरे साढ़े चार वर्ष जंगल में बिताये थे। उस वेश

में कोई भी बच्चा या स्त्री मुझे देख कर किसी प्रेत के होने का अनुमान लगा सकता था या तो फिर पुलिस को मेरे डाकू होने का संदेह हो सकता था। मेरे पास वस्त्र भी कोई नहीं था जिसे पहन कर मैं चलता। अस्तु, यही योजना बना कर कि वस्त्रों की व्यवस्था न होने तक मैं साधु का वेश धारण कर लूं, मैंने अपनी देह पर राख मल ली और भिक्षा मांगने लगा। मुझे जब एक अंगोछा भिक्षा में मिल गया तो मैंने उस आदमखोरों के पैशाचिक आश्रम का वह अवशेष उतार डाला। जीवन से दूर जाने पर मनुष्य की केवल एक ही साध होती है कि किसी तरह जीवन का सामीप्य प्राप्त कर सके पर जीवन मिलने पर उसका मस्तिष्क विचारों का पुंज बन जाता है। चिन्ता, मोह, काम, क्रोध और भय, फिर उसके मन को मथना प्रारम्भ कर देते हैं। मैं सोचता था कि इन चार-पांच वर्षों में न जाने क्या-क्या परिवर्तन देखने को मुझे मिलेंगे। क्या पता था कि वेला जीवित भी हो। जो एक पल भी मुझसे अलग नहीं हो सकती थी, चिर वियोग में हृदय की गति को स्थिर रख उसके जीवित रहने की कैसे मैं कल्पना कर सकता था! फिर मैं सोचता कि यदि वह जीवित भी हो तो भी शायद ही मुझे पहचान सके क्योंकि तब से रूप और रंग, आकृति और विलास सब बातों में महान परिवर्तन आ गया था। दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख कर मैं स्वयं चकित हो उठा था। मेरा वह सफेद पीला मुख श्यामवर्ण हो गया था। मेरी आंखें जो किसी को देख कर एक दम शरमा जाती थीं, अब हिंसक पशुओं जैसी वेधक लगती थीं। आंखों के नीचे गालों की हड्डी उभर आई थीं। कोमल त्वचा लिये मैं अब एक शहरी नवयुवक न रहा अपितु खुरदरी और सख्त देहधारी कोई आदि-जाति का भील या डाकुओं के गिरोह का कोई खूंखार व्यक्ति लगता था। मिर्जापुर के बाद फिर कुछ दिन मैं बनारस रहा और अन्त में एक दिन फिर साधुओं के गेरुए वस्त्र पहन कर बेटिकट दिल्ली को जाने वाली गाड़ी में बैठ गया।

दिल्ली पहुंच कर अचानक अपने को प्रकट करना मैंने उचित न समझा। दरियागंज आकर मैं भीख मांगता हुआ एक दिन प्रातः अपनी

ससुराल के सामने जा पहुँचा। सब पहले ही जैसा था, केवल बेला देखने को न मिली। कोई शिशु भी खेलता हुआ न दिखाई दिया। इरा तब ५ वर्ष के करीब की ही तो रही होगी। किसी से कुछ भी पूछना उचित न समझा अथवा यों कहो कि मुमकिन न था।

भीक्षा माँग कर गली के मोड़ पर पटरी पर मैंने अपना आसन जमा लिया। सोचा कि कभी तो बेला दिखाई देगी। पर जब दो-तीन दिन बीत गये और बेला को घर से बाहर निकलते हुए न पाया, तो उद्विग्न और अशान्त हो उठा।

किन्तु अगली सुबह को ही मैंने अलख को कोठी से बाहर निकलते देख लिया। इशारे से मैंने उसे अपने पास बुलाया और कुछ ऐसी बातें कीं जिनसे उसकी श्रद्धा प्राप्त कर गया। मैंने पूछा, "कितने जीवों की सेवा करते हो?"

"बस, दो ही तो हैं। मेहमान आ जायें तो अलग बात है।"

"सेठ जी के बाल-बच्चे नहीं हैं क्या?"

"क्यों नहीं, किन्तु वह पहाड़ गई हैं।"

"बद्रीनारायण?"

वह हँस पड़ा और बोला, "नैनीताल अपने पति के साथ हवाखोरी के लिये।"

मैं उसके शब्दों के अर्थ लगा ही रहा था कि वह चला गया। अवाक्, गतिहीन और निश्चल मैं पीछे से उसे देखता ही गया। उसके ओझल हो जाने पर मेरी दृष्टि शर्मा जी की कोठी पर पड़ी। वह उतनी ही भव्य, दिखाई दे रही थी, जितनी कि पहले थी। केवल मेरी दृष्टि में अन्तर आ गया था।

# सात

## शैलेन्द्र के स्वरों में

मेरी परीक्षा तब बिल्कुल समीप थी और मेरा समस्त ध्यान अपने अध्ययन पर केन्द्रित था। सिविल इंजीनियरिंग के कोर्स का यह मेरा अन्तिम वर्ष था। कुछ दिन पूर्व ही पिता जी के पत्र से मुझे मालूम हुआ था कि बेला के कन्या हुई है। पढ़ कर मुझे खुशी भी हुई थी पर साथ ही कुछ अजीब-सा भी लगा। बेला मुझसे दो साल छोटी थी पर माँ भी बन गई यानी अब वह पूरी गृहस्थन बन गई थी। किशोरी से युवती और पुनः मातृत्व प्राप्त कर बेला फलों से झुकी हुई लता की व्यापकता प्राप्त कर चुकी थी। मैंने पत्र द्वारा उसे बधाई दी थी। पर पिता जी का दूसरा पत्र जब मैंने पढ़ा तो महसूस किया कि बेला पर नहीं अपितु मुझ पर ही जैसे कोई बिजली गिरी हो। पत्र में उसके विधवा होने का समाचार था। पिता जी ने रेडियो द्वारा प्रसारित न्यूज-बुलेटिन का हवाला दिया था जिसका अगले दिन समाचार-पत्रों में पूर्ण विवरण प्रकाशित हुआ था। पत्र पढ़ कर मैंने कालेज की लाइब्रेरी से उस तारीख का समाचार-पत्र लिया और पढ़ने लगा। वायुयान दुर्घटना में मृतकों का पूरा विवरण प्रकाशित हुआ था। राघव का नाम भी उन बयालीस मृतकों की सूची में था यद्यपि उसकी लाश का पता नहीं चला था। सम्भवतः उसकी लाश भी अन्य पाँच व्यक्तियों की भाँति जल कर राख की ढेरी बन गई हो, ऐसा अनुमान लगाया गया था।

मैं उसी रोज रात की गाड़ी से दिल्ली के लिये प्रस्थान कर गया। मेरे पहुँचने पर पिता जी बोले, "क्या फायदा तुम्हारे आने का! जो हो

चुका, उसे लौटाया तो नहीं जा सकता।"

मैं कैसे पिता जी को समझाता कि उस समाचार से मैं कितना उद्भ्रान्त हो उठा था। यह सही था कि मेरी परीक्षा समीप थी, पर क्या तब मेरे लिये सम्भव था कि उस आघात को सहन कर अध्ययन में जुटा रहता। जब से मैंने वह दारुण समाचार सुना था, तब से प्रतिपल मुझे अपनी आँखों के सामने बेला विलाप करती हुई दिखाई देती थी। उसका वैधव्य मेरे समक्ष मूर्तिमंत हो उठता था। मुझे उसकी हाथों में खनकती हुई चूड़ियों के तोड़े जाने की आवाज सी सुनाई देती। यह निश्चित था कि यदि दिल्ली आने की अपेक्षा मैं रुड़की में रुक कर अध्ययन में ध्यान लगाने की चेष्टा करता तो कभी सफल न होता। बेला लौकिक दृष्टि से मुझसे बहुत दूर थी, पर फिर भी मुझे लगता कि वह मेरे इतने समीप थी कि उसके सुख-दुख का प्रत्यक्ष स्पर्श मैं अनुभव करता। मुझे वे दिन याद आ गये जब मेरे जन्म-दिन पर बधाई देने के लिए आने वालों में से वह प्रथम होती और नित्य उसी के हाथों केक काटा जाता। जब वह छोटी-सी उम्र की बेबी थी और फ्राक पहिनकर मेरे साथ खेलने आती, तब भी कभी मैंने उसे असभ्य व्यवहार करते नहीं पाया। बचपन ही से वह नम्र, सुशील और शिष्ट थी। मैं अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करता रहा तो वह भी नित्य प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होती रही। वह कभी भी मुझसे संकोच नहीं रखती थी। उसकी स्पष्ट बातों में मेरे प्रति अगाध विश्वास प्रतिध्वनित होता था। यह अलग बात है कि यौवन में पदार्पण करने पर वह मुझसे लजाने लगी थी। तब उसके मुंह से निकले हुए वाक्य छोटे हो गये थे पर उन थोड़े-से शब्दों में उसकी भावना पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाती थी। कालेज में प्रवेश प्राप्त करने के बाद भी वह मेरे जन्म-दिवस पर पूर्ववत् केक काटने आती रही। अन्तर केवल इतना ही आया था कि पहले वह केक का एक टुकड़ा मेरे मुंह में ठूंस देती थी पर अब केक काटने के बाद मुस्करा कर केवल एक मार्मिक दृष्टि से मुझे देख कर ही रह जाती। मुस्कान-भरी उस दृष्टि का अर्थ मैं स्वयं समझ जाता।

केक का एक टुकड़ा उठा कर मैं अपने मुंह में डालता और एक उसे भेंट करता। हमारे घर में वह सबको उतनी ही प्रिय थी जितना कि मैं और इसी प्रकार शर्मा जी और उनकी पत्नी मुझे बेला से कम प्यार और आदर नहीं देते थे। विज्ञान में इण्टरमीडियेट करने के बाद मेरा विचार मेडीकल कालेज ज्वाइन करने का था पर हुआ वही जिसका प्रस्ताव बेला ने किया था। मैं लाहौर या लखनऊ जाने की अपेक्षा रुड़की चला गया।

जब बेला की शादी तय हो गई और मैंने उससे भेंट की तो लगा कि उसके अन्दर संकोच और लज्जा की मात्रा में तब थोड़ी वृद्धि और हो गई थी। इसके अतिरिक्त उस संकोच और लज्जा के आवरण में झांकती हुई एकाकीपन की अनुभूति भी मैंने उसके चेहरे पर तैरती हुई पाई। उसे प्रसन्न देखकर मुझे खुशी होती थी और तनिक भी म्लान देखकर लगता था कि जैसे मेरे अपने ही जीवन में सूनापन आ गया हो। ऐसे अवसर कम ही आते जब बेला को मैं उदास पाता। पर उस भेंट के समय लगा कि बेला बाहर से प्रफुल्लित होती हुई भी अन्दर से उदासीन और मौन थी। "शादी कब निश्चित हुई है?" इधर-उधर की बातें करने के बाद मैंने उससे पूछा था। पर वह लजा गई थी। मुझे उत्तर नहीं मिला।

मैं फिर बोला, "शादी में सम्मिलित होने को मुझे पर्याप्त समय पूर्व सूचना भेजनी होगी वरना अवकाश लेने में बाधा पड़ेगी। ध्यान रहेगा न?"

पर मुझे लगा कि संकोच और लज्जा ही नहीं, बेला को शादी की चर्चा रुचिकर भी नहीं लगी, तभी तो उसने चर्चा का विषय बदल दिया। वह बोली, "चाचा जी का इस वर्ष पहाड़ जाने का कार्यक्रम निश्चित हो गया या नहीं।"

"यदि वायसराय गये तो जायेंगे ही। वैसे अब शिमला जाने की विशेष इच्छा नहीं होती।"

"क्यों?"

"वर्षों से गर्मियों में शिमला जाना होता रहा है। कुछ नवीनता नहीं

महसूस होती। मेरा विचार अबकी बार काश्मीर जाने का है यदि तुम्हें स्वीकार हो। अभी वैसे तीन-चार महीने बाकी हैं।"

बेला गम्भीर हो बोली, "मेरी शादी अगले माह फरवरी में ही होनी निश्चित हो चुकी है।"

यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। जब मैंने उससे सीधा प्रश्न किया था तब तो शादी की चर्चा को वह पी गई थी पर अब मेरे काश्मीर जाने के प्रस्ताव पर वह शादी की चर्चा ले आई थी। स्पष्ट था कि मेरा प्रस्ताव उसे अमान्य था। यही तो अर्थ था उसके असंगत उत्तर का, वरना शादी उसकी फरवरी में थी और मेरा प्रस्ताव अप्रैल-मई में जाने का था। यदि उसे मेरा प्रस्ताव मान्य होता तो वह 'हाँ' भर सकती थी। मैं बेला को खूब जानता था। उसके इन्कार में भी शिष्टता होती थी। 'हाँ' कहने को वह मुस्करा जाती थी और 'ना' कहने को वह इसी भाँति चर्चा का विषय बदल देती थी। मुझे कुछ दुख-सा हुआ उसका उत्तर सुन कर। मैंने कुछ ऐसा महसूस किया कि बेला तब अपने और मेरे बीच की दूरी का मुझे परोक्ष में संकेत दे रही थी। यह पहला अवसर था जब इस प्रकार की अनुभूति से मैंने अपने को व्यथित पाया।

मेरे मुख पर शायद मेरी व्यथा उभर आई थी तभी तो बेला पसीज-सी उठी थी—मेरा म्लान मुंह देखकर।

हम दोनों कुछ देर तक बिल्कुल चुप थे मानो चर्चा का कोई विषय शेष न रहा था। तब खामोशी दोनों को अखर रही थी, पर उसे तोड़ने को दोनों में से कोई भी प्रयास न कर सका।

"मैं चलूं अब ?" कहते हुए आखिर मैं वहाँ से उठ गया।

ताई जी मुझे जाते देख बोली, "भोजन बना चुकी हूँ। खिसक मत जाना।"

बेला की माताजी को मैं ताईजी और शर्माजी को ताऊजी कहता था। शर्मा जी के यहाँ भोजन करने का मेरा वह पहला अवसर नहीं था। न जाने कितनी बार मेरे पिता और माताजी वहाँ भोजन कर चुके थे। मैं

तो दिनों तक कहीं वहाँ तक जाता था। इसी प्रकार वेला भी हमारे घर को अपना ही घर समझती थी। केवल शर्मा जी और वेला की माँ कुछ रूढ़ विचारधारा के होने के कारण घर से बाहर अन्यत्र भोजन करने में संकोच करते थे। हमारा तो फिर कायस्थों का घर था, जहाँ कभी मांस, मछली और मदिरा तक चलती थी। यह शर्मा जी का प्रभाव हो था कि पिता जी को ये चीजें वर्जित करनी पड़ीं और उन्हीं की भाँति शुद्ध शाका-हारी जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिली। हाँ, मेरे आमलेट-अण्डा खाने में शर्मा जी को कोई विरोध नहीं था। यहाँ तक कि मेरे साथ [illegible] और अण्डे की बनी हुई चीजें लेने में शर्मा जी ने वेला को भी नहीं रोका।

अपने घर में हों या शर्मा जी के घर में, मैं और वेला जब [illegible] होते, इकट्ठे एक ही मेज पर भोजन करते। उस दिन जब [illegible] प्लेट मेज पर लगी देखी, तो मैं दुख से भर उठा। भोजन [illegible] अलख के स्थान पर वेला स्वयं परोस रही थी। इस प्रकार [illegible] और नई रीत को लक्ष्य कर अपने और वेला के पृथक् [illegible] शंका मन-ही-मन में मेरे टीस-सी भर रही थी, उसकी [illegible] हो गई।

इच्छा न होते भी मैं भोजन करता जा रहा था। [illegible] आद्यपरान्त मुझ पर ही टिकी हुई थी, ऐसा मेरा [illegible] प्रत्येक भाव-भंगिमा का अध्ययन करती जा रही [illegible] देखकर स्वयं भी दुःखी थी, पर मुझे आश्वस्त [illegible] नहीं बोली मानो उसका मौन उसके अन्दर [illegible] मूर्तिमान कर रहा था।

मैं चल पड़ा पर जाते-जाते एक दृष्टि [illegible] आँखों में तब मुझे कुछ अश्रु डोलते हुए [illegible]

उसके बाद उसकी शादी में दुबारा [illegible] वस्त्र और आभूषणों से सजी हुई थी। [illegible]

"शैलेन्द्र नहीं आये क्या ?"

मैं पास वाले कमरे में था। इन शब्दों में छुपी हुई व्यग्रता अथवा प्रतीक्षा की भावना को लक्ष्य कर ओतप्रोत-सा हो उठा।

ताई जी के बुलाने पर उस कमरे में आया तो उसने पलकें झुका ली थीं। इस भय से कि कहीं हमारी दृष्टि न टकरा जाय, वह घूंघट के परिवेष्टन में अपने मुख को छुपाने का संयत प्रयास कर रही थी। उससे मेरी कोई बात नहीं हुई। उसे विदा करते हुए सभी की आँखों में सैलाब उतर आया था। पर मैं मौन जड़-सा एक ओर खड़ा रहा। वह फूलों से लदी हुई कार में बैठने से पूर्व आशीर्वाद प्राप्त करने सबके पाँव छूती जा रही थी। मुझे खड़ा देख वह मुँह मोड़ कर तुरन्त कार में जा बैठी थी। तब मुझे अनुभव हुआ कि बेला और मैं एक गमले के दो पौधे थे जिन्हें विस्तार ग्रहण करने हेतु गमले से उठा कर अलग-अलग भूमि पर रोपा जा रहा था। राघव की मृत्यु से मुझे लगा कि बेला विस्तार न पा सकी अपितु कुम्हला कर सूख गई। मासूम पौधे पर कुछ समय ही बहार आई। दुर्भाग्य के प्रचण्ड ताप में उसकी हरी कोंपलें झुलस कर उसे वीरान बना गई थीं,। जिसे नित्य इतना निकट समझता रहा, उस पर दुर्भाग्य की इतनी बड़ी मार पड़ने से मैं कैसे उस मार की मरणान्तक पीड़ा का स्पर्श अनुभव न करता? राघव से मेरा विशेप परिचय नहीं था। कुछ ही घण्टों की मुलाकात थी। पर तब भी आपस में हम विशेप नहीं बोले थे। वह कुछ अल्प-भापी और गम्भीर प्रकृति के लगते थे। उस मुलाकात के दौरान ही मैंने महसूस किया कि शर्मा जी उनसे खुश नहीं थे। सम्भवत: उन्हें प्रतिभाहीन समझते थे। पर बाद में मुझे पिता जी के पत्रों से विदित हुआ था कि राघव छिपी प्रतिभा के व्यक्ति थे और शर्माजी उनके व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं कर पाये थे। दुर्घटनास्थल पर उनका एक सूटकेस पाया गया था जिसमें दो बढ़िया किस्म की जरीदार साड़ियाँ और एक कीमती पर्स के अतिरिक्त दस हजार के क्रास्ड चैक भी थे। यह रुपया उन्हें फिल्मों के कन्ट्रैक्ट से प्राप्त हुआ था। सूटकेस में पाये गये दस्तावेजों से इस बात की पुष्टि हो गई थी। वायुयान कम्पनी ने वे सब चीजें

बेना को सौंप दी थी।

मैं शोक व्यक्त करने उसी दिन शाम को जिस दिन मैं रुड़की से दिल्ली पहुँचा, पिता जी के साथ शर्मा जी की कोठी पर गया। ताई जी फूट-फूट कर रो रही थी। शर्मा जी भी घड़ी-घड़ी आँखों से आँसू पोंछते जाते थे। पिता जी उन्हें शान्त करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। मेरी समझ में नहीं आया कि क्या करूँ और क्या बोलूं।

"बेला कहाँ है ?" पिताजी ने ताई जी से पूछा।

"अपने कमरे में पड़ी भाग्य को रो रही है।"

"देखो भाभी ! यदि तुम ही बच्चा बन गईं तो उस बच्ची को कौन समझायेगा ? उसे आशा बँधाओ, यों रुदन और विलाप कर उसके घावों को भरने में व्यवधान मत बनो।" पिता जी कह तो गये पर स्वयं आँसू टपकाने लगे। ताई जी के साथ मैं बेला के कमरे में गया तो मैंने उसे आँखें बन्द कर पलंग पर लेटा हुआ पाया। उसके केश खुले हुए और साड़ी अस्त-व्यस्त थी।

"बेला !" ताई जी ने उसे सम्बोधित किया।

आँख खोल उसने अपनी माँ के साथ मुझे देखा तो हड़बड़ा कर उठती हुए तुरन्त उसने अपने वस्त्र ठीक किये और सिर पर साड़ी का पल्ला डाल कर निगाहें झुका ली।

"इसे समझाओ, शैलेन्द्र। यह न तो खाती है, न बोलती है। आँखें बन्द किये सोचती रहती है। इसे रोना सिखा दो ताकि जी भर रो कर दुःख तो शान्त कर ले।" ताई जी बोलीं।

पिता जी और शर्मा जी तब तक कमरे में आ गये थे। मेरी अपेक्षा पिता जी ही बेला को समझाने लगे। पर वह मौन और निश्चल रही। मैं केवल चार-पाँच ही दिन दिल्ली रुक सका। उन चार-पाँच दिनों में नित्य मैं बेला के पास जाता और बेला को सुनाता हुआ ताई जी के समक्ष शोक प्रकट करता अथवा ढाढ़स दिलाता।

कुछ माह पश्चात् परीक्षा समाप्त होने पर जब मैं दिल्ली लौटा तब

बेला को काफी सँभला हुआ पाया ।

उसके श्वेत परिधान को लक्ष्य कर उससे मेरी बातें करने की हिम्मत नहीं हुई पर वह स्वयं ही बोल उठी थी, "कैसे किये पेपर ?"

"ठीक हुए हैं ।"

मैं फिर भी यह न पूछ सका कि अब तुम कैसी हो ?

उस सादे लिबास में भी उसका व्यक्तित्व जैसे जगमगा रहा था । मुख पर कान्ति और माधुर्य था । उसके बात करने का वही ढंग था । केवल चांचल्य का स्थान गम्भीरता ने ले लिया था ।

वह मेरे लिये चाय लेने चौके में गई तो मैंने रैक से एक पुस्तक उठा ली । राघव का लिखा हुआ उपन्यास था वह—रीत और प्रीत । मैं पढ़ने लगा । एक तरुणी को लेकर उसके मानसिक दुःखों का चित्रण किया गया था आदि के पृष्ठों में ।

बेला चाय की ट्रे लेकर वापस कमरे में लौटी तो घबरा कर मैंने पुस्तक को उसी स्थान पर रख दिया जहाँ से उसे उठाया था । मेरी यह क्रिया बेला की नजरों से छुपी न रह सकी । उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई । चाय बना कर प्याला मेरी ओर बढ़ाती हुई बोली, "क्या सोचा है अब आपने ?"

"सोचना कैसा ?"

"इंजीनियर तो बन ही गये हैं ।"

"अभी रिजल्ट तो पहले निकल जाय ।"

"उसे तो निकला हुआ ही समझो ।"

मन में आया कि कह दूं तुम्हीं आगे बताओ, पर ऐसा कहने हिम्मत न हुई ।

बोला, "दूर की मैंने कभी नहीं सोची क्योंकि मनुष्य सोचता औ है, होता और कुछ है ।"

मैं कहने को तो कह गया पर फिर तुरन्त अपनी भूल मह ली मैंने । बेला चुप रही । वह समझ गई थी कि ये शब्द अनाय

मेरे मुँह से निकल पड़े थे।

मैंने चर्चा को गति दी। बोला, "डाक्टरी की होती तो प्रैक्टिस करता पर तब तुमने मेरे प्रस्ताव का विरोध किया था। सर्विस के अतिरिक्त अब और क्या हो सकता है?"

मैंने महसूस किया कि इस बार मेरे शब्दों में अतीत झाँक उठा था। बीते दिनों की याद लोमहर्षक होती है पर कभी-कभी सामयिक नहीं जँचती।

यह प्रसंग भी इस समय सम्भवतः सामयिक नहीं था। पर चर्चा का कोई विषय भी तो मिले। संकोच ने दोनों को जड़ जो बना दिया था। मेरे शब्दों पर इस बार बेला फीकी हँसी हँस दी थी। मैंने पालने पर खेलती हुई उसकी बच्ची का प्यार लिया और फिर गोदी में उठा लिया। मैं तब प्रायः बेला से मिलने शर्मा जी की कोठी जाता रहता। बेला बोलती कम थी पर मेरे साथ रह कर वह अपेक्षाकृत प्रसन्न दिखाई देती थी, ऐसा शर्मा जी और ताई जी का अनुमान था। मैं उसकी बच्ची इरा के साथ दिल बहला लेता था।

पिता जी एक दिन मुझ से बोले, "बेला को तुम यहाँ क्यों नहीं लाते?"

"वह आये, तब तो।"

"तुमने कभी जोर भी दिया?"

"यह कैसे सम्भव है, पिता जी?"

"पहले कैसे सम्भव था?"

"लेकिन परिस्थितियों में अन्तर जो आ गया है अब।"

"यह विडम्बना है—एक भावुक भूल।"

मैं विमूढ़ हो पिता जी का मुख देखता ही रह गया। उनके शब्दों का कोई अर्थ न लगा सका।

वे बोले, "शर्मा जी के साथ लम्बी मैत्री होने के कारण, मेरा उन पर स्नेह और विश्वास है। पर कभी-कभी मुझे उन पर चिढ़ हो जाती

मैंने वेला को काफी सँभला हुआ पाया।

उसके श्वेत परिधान को लक्ष्य कर उससे मेरी बातें करने की हिम्मत नहीं हुई पर वह स्वयं ही बोल उठी थी, "कैसे किये पेपर ?"

"ठीक हुए हैं।"

मैं फिर भी यह न पूछ सका कि अब तुम कैसी हो ?

उस सादे लिबास में भी उसका व्यक्तित्व जैसे जगमगा रहा था। मुख पर कान्ति और माधुर्य था। उसके बात करने का वही ढंग था। केवल चांचल्य का स्थान गम्भीरता ने ले लिया था।

वह मेरे लिये चाय लेने चौके में गई तो मैंने रैक से एक पुस्तक उठा ली। राघव का लिखा हुआ उपन्यास था वह—रीत और प्रीत। मैं पढ़ने लगा। एक तरुणी को लेकर उसके मानसिक दुःखों का चित्रण किया गया था आदि के पृष्ठों में।

वेला चाय की ट्रे लेकर वापस कमरे में लौटी तो घबरा कर मैंने पुस्तक को उसी स्थान पर रख दिया जहाँ से उसे उठाया था। मेरी यह क्रिया वेला की नजरों से छुपी न रह सकी। उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई। चाय बना कर प्याला मेरी ओर बढ़ाती हुई बोली, "क्या सोचा है अब आपने ?"

"सोचना कैसा ?"

"इंजीनियर तो बन ही गये हैं।"

"अभी रिज़ल्ट तो पहले निकल जाय।"

"उसे तो निकला हुआ ही समझो।"

मन में आया कि कह दूं तुम्हीं आगे बताओ, पर ऐसा कहने की हिम्मत न हुई।

बोला, "दूर की मैंने कभी नहीं सोची क्योंकि मनुष्य सोचता और कुछ है, होता और कुछ है।"

मैं कहने को तो कह गया पर फिर तुरन्त अपनी भूल महसूस की मैंने। वेला चुप रही। वह समझ गई थी कि ये शब्द अनायास

मेरे मुँह से निकल पड़े थे।

मैंने चर्चा को गति दी। बोला, "डाक्टरी की होती तो प्रैक्टिस करता पर तब तुमने मेरे प्रस्ताव का विरोध किया था। सर्विस के अतिरिक्त अब और क्या हो सकता है?"

मैंने महसूस किया कि इस बार मेरे शब्दों में अतीत झाँक उठा था। बीते दिनों की याद रोमहर्षक होती है पर कभी-कभी सामयिक नहीं जँचती।

यह प्रसंग भी इस समय सम्भवतः सामयिक नहीं था। पर चर्चा को कोई विषय भी तो मिले। संकोच ने दोनों को जड़ जो बना दिया था। मेरे शब्दों पर इस बार बेला फीकी हँसी हँस दी थी। मैंने पालने पर खेलती हुई उसकी बच्ची का प्यार लिया और फिर गोदी में उठा लिया। मैं तब प्रायः बेला से मिलने शर्मा जी की कोठी जाता रहता। बेला बोलती कम थी पर मेरे साथ रह कर वह अपेक्षाकृत प्रसन्न दिखाई देती थी, ऐसा शर्मा जी और ताई जी का अनुमान था। मैं उसकी बच्ची इरा के साथ दिल बहला लेता था।

पिता जी एक दिन मुझ से बोले, "बेला को तुम यहाँ क्यों नहीं लाते?"

"वह आये, तब तो।"

"तुमने कभी जोर भी दिया?"

"यह कैसे सम्भव है, पिता जी?"

"पहले कैसे सम्भव था?"

"लेकिन परिस्थितियों में अन्तर जो आ गया है अब।"

"यह विडम्बना है—एक भावुक भूल।"

मैं विमूढ़ हो पिता जी का मुख देखता ही रह गया। उनके शब्दों का कोई अर्थ न लगा सका।

वे बोले, "शर्मा जी के साथ लम्बी मैत्री होने के कारण, मेरा उन पर स्नेह और विश्वास है। पर कभी-कभी मुझे उन पर चिढ़ हो जाती

है। वह समय का विचार नहीं रखते। अभी भी वे उसी प्राचीन रूढ़ विचारधारा को लेकर चलते हैं वरना……।"

वे कहते-कहते रुक गये। शायद संकोच कर गये।

फिर बोले, "इतना समझता हूँ पर आँखें नहीं खुल पा रहीं।"

मैं पूछना चाहता था कि उनका संकेत किस ओर है, पर वह बात बदल कर बोले, "बेला-जैसी शिक्षित आधुनिक लड़कियों पर यों विधवाओं का-सा लिबास शोभा नहीं देता। वह भूल कैसे सकती है अपने दुख को?……जो चीज प्राकृतिक न हो, वह सत्य कैसे हो सकती है।"

पिता जी बोल तो रहे थे पर मुझे लग रहा था कि वह अपनी बात स्पष्ट नहीं कर पा रहे थे। मैं उनके शब्दों का कोई अर्थ न लगा सका। मैंने उन्हें माता जी से और शर्मा जी से भी बेला की चर्चा करते सुना था, पर मेरी उपस्थिति में वह चर्चा का विषय बदल देते थे अथवा उन्हें स्पष्ट बातें करने में संकोच हो जाता था।

पिता जी शिमला जाने वाले थे। वह हर साल प्रायः अप्रैल में वहाँ जाते थे। एक दिन मैं शर्मा जी के घर गया हुआ था तो बेला बोली, "आप भी तो जा रहे होंगे चाची के साथ?"

"नहीं।"

"क्यों? दो-तीन वर्षों से आप गये नहीं।"

"क्या करूँगा अकेले?"

"चाची जी भी नहीं जा रहीं क्या?"

"नहीं, उन्हें रोक लिया है मैंने।"

"पर क्यों?"

"यहाँ अकेले मैं किसके साथ रहूँगा?"

बेला ने गर्दन झुका ली थी। रुक कर फिर उसने एक विहंगम दृष्टि मुझ पर डाली और मुझे कुछ उदास देख कर सिर नीचा कर कुछ सोचने ही लगी।

कुछ देर रुक कर वह बोली, "मैं एम० ए० करूँ या जर्नलिज्म?"

मैं चौंक-सा गया। घूरता हुआ बोला, "आगे पढ़ाई करने का विचार निश्चित है क्या ?"

"क्या करूँ घर बैठ कर ?"

मैंने एक दीर्घ नि:श्वास छोड़ा और बोला, "ठीक ही है।"

"क्या ठीक है ?"

"तुम्हारा दिल बहला रहेगा।"

यह सुनकर वह फिर चुप हो गई।

मैंने लक्ष्य किया कि वह संज्ञाहीन नहीं थी। उसके अन्दर हर बात की प्रतिक्रिया होती थी, पर वह उस प्रतिक्रिया के उन स्पर्शों को प्रकट नहीं होने देती थी। राघव की मृत्यु से उत्पन्न अवसाद को वह नियति का प्रहार समझ कर पी गई थी अथवा पीने का प्रयास कर रही थी और इसी प्रकार दूसरों के प्रति जो करुण भाव उसके अन्दर जाग्रत होते अथवा जो टीस और आत्मीयता वह अनुभव करती उसका प्रतिबिम्ब अपने मुख पर पड़ने से बलात् रोके रखती। इस दमन की वृत्ति को वह अपनी प्रकृति मे समाविष्ट करने के लिये पूर्ण रूप से प्रयत्नशील थी। मैं दूसरे दिन कालिज गया और जर्नलिज्म का प्रोस्पेक्टस ला कर बेला को देता हुआ बोला, "केवल दस माह का कोर्स है, फिर पत्रकार बन जाओगी।"

वह आश्चर्य से कुछ देर मेरा मुँह देखती ही रह गई। शायद उसे आशा नहीं थी कि जरा-सा सकेत करने पर ही मैं उसके आगे के अध्ययन मे यों रुचि लूँगा। शर्मा जी को पता चला कि बेला मुझसे परामर्श ले कर यूनिवर्सिटी ज्वाइन करना चाहती है, तो बोले, "बेला की तुम पर श्रद्धा ज्यों की त्यों बनी हुई है। तुम पर उसे विश्वास ही नहीं, अपितु तुमसे वह प्रेरणा भी लेती है।"

चाची जी वहाँ पर बैठी थी, थोड़ा हँसते हुए बोलीं, "शैलेन्द्र भी तो इंजीनियरिंग पढ़ने बेला का कहना मान कर ही गया था।"

शर्मा जी के वाक्य से बेला चौंक-सी गई थी, पर चाची के शब्दों ने उसे हँसने पर बाध्य कर दिया। पूर्ण अंकुश रखने पर भी बेला अपनी

हँसी को रोक नहीं पाई।

मैं उसको यों मुक्त हँसता देख कुछ क्षण को विभोर हो उठा। एक लम्बी अवधि बीत गई थी—वेला की दन्त-पंक्तियों की श्वेत छटा को बिना देखे। मुझे एकटक आत्म-विभोर हो अपनी ओर देख कर वह सिट-पिटा कर दूसरे कमरे में चली गई।

दो माह बाद मेरा रिज़ल्ट निकला और जैसी कि परिवारीजनों को आशा थी, मैंने सर्वप्रथम स्थान पा लिया था।

शर्मा जी का फोन आया। मुझे बधाई दी उन्होंने और साथ ही खूब प्रशंसा भी की। फिर बोले, "माथुर कब लौट रहे हैं शिमला से ?"

"दो-चार दिन में पहुंच जायेंगे।" मैं बोला।

"तो तुम तो आज इधर ही आ जाओ। तुम्हारी सफलता की खुशी में तुम्हारी चाची तुम्हारा सत्कार करना चाहती हैं।"

मैंने कृतज्ञता प्रकट की और बोला, "शाम को आ जाऊँगा चाचा जी। वेला को एडमिशन मिल गया या नहीं ?"

"मिल गया।" वह बोले, "लो, वेला को बुलाये लेता हूँ, बात कर लो।"

कुछ क्षणों के बाद मृदुल कम्पित-सा स्वर सुनाई दिया वेला का।

"बधाई नहीं दोगी, परिणाम अच्छा रहा है मेरा।" मैं बोला।

"हां, मैं देख चुकी हूँ रिजल्ट-शीट।"

... जान पड़ा वेला ... । मुझे टीस-सी महसू...

बड़ा औपचारि...

कृपणता वर्तते महसूस कर मैंने रिसीवर रख दिया।

मेरे जीवन की सर्वाधिक उल्लासमय घड़ी में बेला की उदासीनता ने मेरे उत्साह और उमंगों के उबाल पर पानी का छींटा-सा मार दिया। बधाई के सन्देश दूसरे मित्रों और संबंधियों से भी प्राप्त होने लगे थे पर सब मैं बर्फ के समान ठण्डा-सा पड़ चुका था। मेरी खुशी में यदि आज बेला शरीक नहीं हो सकी तो कैसे यकीन कर लेता कि मेरे लिये वह खुशी का दिन था।

शाम को मैं शर्मा जी के निमन्त्रण पर उनके घर नहीं गया।

उन्होंने टेलीफोन किया तो मुझे बहाना बनाना पड़ा कि मेरी तबीयत ठीक नहीं थी।

अगली सुबह को मैं देर से उठा। स्नान कर जलपान ले ही रहा था कि कार का हॉर्न सुनाई दिया। बेला आई थी। मैं विस्मित हो उठा। उसके मुख पर न पश्चात्ताप का चिह्न था न संकोच ही। सहज मुस्कान में बोली, "कल शाम आप भोजन करने नहीं आये ?"

"जरा तबीयत ठीक नहीं थी।"

वह थोड़ी मुस्करा दी मानो मेरे झूठ का उसे अहसास था पर गिला नहीं।

"आपको लेने आई हूँ। जरा तैयार हो जाइये।"

मैं उसकी ओर देखता रहा।

वह हँसी और बोली, "मनाने नहीं आई हूँ, कष्ट दूँगी। यूनिवर्सिटी में फीस जमा करनी है।"

बेला के बात करने के ढंग पर मैं चकित था। प्रत्यक्ष में व्यंग करते हुए भी परोक्ष में कितने संयम और शालीनता के साथ वह मुझे मान दे बैठी थी। वह मनाने का उद्देश्य लेकर न भी आई हो पर रिझाने का लक्ष्य प्राप्त कर गई।

"चलो !" कहते हुए मैं उठा और कपड़े बदल कर साथ हो लि

यूनिवर्सिटी से लौटने पर मेरे तनिक से आग्रह पर उसने और

ाय भी पी और फिर मुझे अपने घर ले गई।

शर्मा जी के साथ चाची जी ने भी मुझे खूब सुनाई, पर झेंप महसूस करने की अपेक्षा उस प्रताड़ना से मैं उल्लासित हो उठा। बेला दर्शक बन कर खामोश एक ओर खड़ी रही।

चाची जी शर्मा जी को सम्बोधित करती हुई बोलीं, "मैं कहती जो थी कि इसकी गुरु तो बेला ही है। हमें तो यह चरा जाता है।"

और सब तो खिलखिला कर हँस पड़े पर बेला केवल मुस्करा कर अपने कमरे में चली गई।

पिता जी के आने के बाद मेरे जन्म-दिवस पर एक विशाल पार्टी का आयोजन किया गया। काफी बड़ी संख्या में सम्मानित व्यक्तियों को निमन्त्रण भेजा गया था। पार्टी मुख्य रूप से मेरे परीक्षा में प्रथम आने की खुशी में ही की गई थी।

लॉन पर सब अतिथि एकत्रित हो रहे थे। चाची जी बेला की गोद की बच्ची को लेकर तो सुबह ही आ गई थीं पर शर्मा जी के साथ जब मैंने बेला को आते नहीं देखा तो मेरा दिल टूट-सा गया। यह बेला के चरित्र की कौन-सी विशेषता थी कि ऐन मौकों पर वह मेरी अब उपेक्षा करने लगी थी। बचपन से मेरे प्रति सदा उसका आदर-भाव रहा। अब वह शिष्टाचार की सीमाओं को भी लांघ रही थी।

मैं इरा को गोद में लेकर एकटक द्वार की ही ओर देख रहा था बेला की अनुपस्थिति न केवल मुझे ही बल्कि पिता जी, माता जी के अतिरिक्त स्वयं शर्मा जी और चाची जी को भी खल रही थी।

"बेला क्यों नहीं आई ?" आखिर पिता जी शर्मा जी को सम्बोधि कर बोले।

"यूनिवर्सिटी चली गई थी सुबह ही। पता नहीं क्यों इतनी देर दी उसने।"

मैंने सुना तो कुछ दुखी-सा हो गया। आज क्या वह छुट्टी नहीं सकती थी अथवा फिर समय पर ही आ जाती। एक तो मेरा जन्म-

और दूसरे पास होने की खुशी। क्या वेला का इन भावनाओं से कोई संबंध नहीं रहा? अतिथियों को अधिक प्रतीक्षा न कराने के उद्देश्य से पिता जी बोले, "शैलेन्द्र! केक काट कर सबको वितरण करो।"

केक के चारों ओर मोमबत्तियाँ जला कर रख दी थीं, पर मुझे लग रहा था कि वेला का वह उपेक्षा भाव तेज झोंका बन कर मेरी आत्मा की ज्योति को बुझा मेरे अन्दर घना अन्धकार पैदा कर गया था।

मैंने स्वयं अपने हाथों से केक न काट इरा की मासूम उंगलियों में छुरी फँसा दी और एक टुकड़ा काट कर उसके मुँह में केक का चूरा डाल दिया। केक फिर कटता रहा और वितरित होता रहा। तुरन्त उसके बाद दावत का सामान प्लेटों में सजने लगा और अतिथि कुर्सियों पर आसीन होने लगे। तभी धूल उड़ाती हुई शर्मा जी की कार आती दिखाई दी। वेला कुछ थकी-सी कार से उतर कर हमारे पास आ खड़ी हो गई।

"बड़ी देर कर दी आने में, बेटी!" पिता जी बोले।

"हाँ देर हो गई जरा, चाचा जी।" उसने इतना सहज उत्तर दिया कि मैं कट-सा गया। शायद मेरी भौंओं पर बल भी पड़ गये थे पर उन्हें लक्ष्य कर भी वह शान्त दिखाई दी। पश्चात्ताप या अन्य किसी प्रतिक्रिया का कोई चिह्न उसके मुख पर न दिखाई दिया। अतिथियों से भरे प्रांगण में उस समय किसी ने भी वेला को कुछ न कहा पर जब वह माता जी के साथ एक कमरे में आ गई तो पिता जी नम्र शब्दों में उसे प्रताड़ना देते हुए बोले, "शैलेन्द्र को बड़ा दुख हुआ बेटी कि केक तुम्हारे हाथों नहीं कटा।"

वह चुप थी। मैं पास वाले कमरे में खड़ा उनकी बातें सुन रहा था। पिता जी आगे बोले, "आखिर उसने इरा के हाथों केक कटवाया।"

"क्यों, ऐसा क्यों किया?" वेला मानो आपत्ति कर बैठी।

"नहीं बेटा, तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये, वरना जानती हो कि यदि शैलेन्द्र कहीं सुन ले तो उसका दिल टूट जायेगा।" पिता जी वेला की पीठ सहलाते जाते थे।

जीने पर वाह-वाह और मरने पर हाय-हाय तो बाद में होती ।"

"ऐसी बात नहीं भाभी । बुरा न मानो तो मैं कहने से नहीं चूकूंगा । बेला का विवाह हठधर्मी में आकर ही तुमने किया । तुमने राघव को पसन्द कर नहीं, समाज के बन्धनों को सिर अंजाम देते हुए, बेला की रुचि और पसन्दगी का बिल्कुल भी ख्याल न करते हुए किया । बाद में तुम अड़ते रहे । बोलो, यह झूठ है क्या ?"

"बीती हुई बातों पर चर्चा करने से क्या लाभ ?" ताई जी बोलीं ।

मैं यों उस रोमांचकारी वार्तालाप को सुनने में तल्लीन था कि अचानक बेला मेरे कमरे में आ गई ।

"इरा आपके पास नहीं है क्या ?" वह बोली ।

मैं कुछ उत्तर देता कि तब तक बेला का ध्यान भी उस घोर वाक् युद्ध की ओर आकृष्ट हो चला था । पिता जी का स्वर स्पष्ट सुनाई दे रहा था ।

"मैं बीती हुई बातों की चर्चा नहीं कर रहा । सवाल दृष्टिकोण का है । शर्मा जी अभी तक उसी हठ को लिये बैठे हैं । जो विचार प्रगतिशील हैं, उनमें इन्हें विषैले किटाणु दिखाई देते हैं । परिणाम हमारे सामने है । आज बेला को जरा मैंने छुआ तो रो पड़ी । कहने लगी कि 'चाचाजी, मैं विधवा हूँ । क्या संबंध है मेरा दुनियां की खुशियों से !' मैं पूछता हूँ कि यदि तुम्हें बेला की खुशियों का खयाल रहा है तो कहां से उसके अन्दर यह गम का गुबार आ गया । उसके नैराश्य को तो तुम उसके चारित्रिक उत्थान की संज्ञा देते होगे । पर उस जैसी चरित्र वाली लड़की का य[illegible] चारित्रिक उत्थान नहीं, शोषण है—उसकी स्वाभाविक प्रकृति का दम[illegible] है । इस दमन से वह गरिमा प्राप्त नहीं करेगी, 'कॉम्प्लेक्सिज' का अम्ब[illegible] बन जायेगी । एक कोंपल को डण्ठल में परिणित कर फिर भी तुम्हें अप[illegible] महानता नजर आती है ?" वातावरण में उत्तेजना आ गई थी । [illegible]

रोमांचित-सी दिखाई दी । पलट कर वह कमरे से बाहर हो गई । [illegible]

...में ही था।

एक दिन शाम ताई जी वेला-सहित बैठक में बैठी हुई पिता जी और ...जी के साथ बातें कर रही थी। मैं भी एक ओर कुर्सी पर बैठ गया

ताई जी बोलीं, "बेटा ! यह युद्ध कभी खत्म भी होगा या नहीं ? ...ड़ियों में जाओ, तो जगह नहीं मिलती। खाने-पीने की चीजों का अभाव ...लग हो रहा है।"

"अभी ऐसी कामना न कीजिये, ताई जी ! मैं सुपरिन्टैण्डिंग इंजी-नियर बन जाऊँ, फिर चाहे तब युद्ध समाप्त हो जाय।"

पिता जी हँस पड़े। बोले, देखा भाभी ! इसने अभी नौकरी शुरू ही की है पर चरित्र में स्वार्थ भरने लग गया है।"

"उस पोस्ट पर तो प्रायः इस समय सब अंग्रेज ही हैं। यदि प्रमोसन पा गया तो किसी अंग्रेज का ही हक जायेगा—हिन्दुस्तानी का तो नहीं। जिसे आप स्वार्थ कह रहे हैं, क्या वह सेवाओं का भारतीयकरण नहीं है ?"

मेरी बकवास सुन पिता जी के साथ वेला भी हँस पड़ी।

इरा नीचे फर्श पर घुटनों के बल चल रही थी।

उसे गोद में उठाते हुए मैं ताई जी से बोला, "इसकी वर्षगाँठ कब है ?"

"परसों ही तो है।" एक भारी-सा केक ले आई हूँ। तुम्हारी वर्ष... गाँठ पर इरा ने केक काटा था, उसकी वर्षगाँठ पर तुम केक काटोगे।... "कोई बुराई तो नहीं है ?" वेला को सुनाते हुए मैंने प्रश्न कि...

वह लज्जित हो मुस्करा दी और फिर उसकी नजरें झुक गई।

कृत्रिम गुस्से में माता जी बोली, "तू फिर वेला को छेड़ रहा है..."

"वेला ने यदि आचरण ही वैसा किया होगा तो छेड़ेगा ही।" ... जी बीच में ही बोलते हुए वेला की ओर देख मुस्करा उठे।

वेला उसी प्रकार हँसती रही।

पिता जी माता जी को सम्बोधित कर बोले, "जरा निका...

डाक। इस समय सब बैठे हैं—विचार कर लें तो क्या हानि है ?"

माता जी पत्रों का एक पुलिन्दा ले आईं और साथ में ढेर-सारी फोटो। टेबल पर कई खूबसूरत चेहरे बिखर गये।

"शैलेन्द्र के लिए न्योते आये हैं ब्याह के। मैं समझता हूँ कि चित्र तो पसन्द करें भाभी और पत्र पढ़े बेला।"

पिताजी की इस बात पर सब हँस पड़े थे। केवल मैं चुप रहकर बेला की ओर कभी चोर नजर से देख लेता था।

माता जी बोलीं, "आपने ऐसा प्रस्ताव क्यों किया ?"

"इस लिये कि सूरत उसकी भाभी को जरूर पसन्द आनी चाहिये। परख रखती हैं वह मुख से पहचानने में। पर रुचि और स्वभाव का निर्णय देगी बेला—वरना शैलेन्द्र छला जायेगा।"

सब हँस पड़े पर बेला मौन और गम्भीर हो उठी। ताई जी और माता जी में मेरी होने वाली पत्नी को लेकर मीठा वाद-विवाद छिड़ चला पर बेला उन चित्रों को देखने और फिर पत्रों पर सरसरी निगाह डालने में तल्लीन-सी दिखाई दी। वह कभी बीच-बीच में रुचि जाहिर न करती हुई माता जी और ताई जी की ओर भी देख लेती थी, पर वह उनकी बातें भी सुनती चली गई हो, कह नहीं सकता। पिता जी [illegible] कुछ [illegible] सकते, क्योंकि उनकी निगाहें, कभी मेरी ओर तो कभी [illegible] की [illegible] घूमती रहीं। वैसे प्रत्यक्ष में वह माता जी और ताई जी के [illegible] चर्चा पर हँसते जाते थे।

इरा की वर्षगाँठ पर मैंने ही केक [illegible]। [illegible] इरा को गोदी में लेकर प्यार करता रहा। [illegible] गुदगुदी-सी उठती मुझे। बेला इरा के [illegible] दी। मुझ से बातें करने को उसने [illegible] इरा को स्टुडियो ले जा, उसे गोद में [illegible] घर चला आया।

दो दिन बाद मैंने [illegible]

ट आ गये हैं क्या ?"

"हाँ, बहुत भोली सूरत आई है इरा की।"

"और मेरी ?"

कोई उत्तर नहीं सुनाई दिया।

मैं बोला, "एक कापी मुझे भेज सकोगी आज ही ?"

"आप आइये न शाम को !"

"नहीं। आज दफ्तर में ही शायद नौ-दस बज जायें। कई हटमेंट्स के निर्माण का कण्ट्रैक्ट करना है।"

"अच्छी बात है !" कहते हुए उसने रिसीवर रख दिया था।

मैं शाम के चार बजे आफीस में ही चाय पी रहा था कि कमरे से बाहर वेला के बातें करने का स्वर सुनाई दिया। कुर्सी से उठ कर मैं कमरे से बाहर आया तो अर्दली को वेला के साथ हुज्जत करते हुए पाया। वह बगैर चिट लिखे वेला को अन्दर नहीं आने दे रहा था और वेला शायद मुझे आश्चर्य में डालने को, बिना नोटिस के आना चाहती थी।

"क्या बदतमीजी कर रहे हो ! जानते नहीं, कौन हैं ?" मैंने अर्दली को फटकारा।

घबरा कर उसने वेला को सेल्यूट किया और माफी माँगने लगा। वेला मुस्करा कर मेरे साथ अन्दर आ गई। मैं फोटो देखने लगा तो वेला मुस्करा पड़ी।

मैं बोला, "उस दिन कौन-सी फोटो पसन्द आई तुम्हें ?"

"फोटो आपने पसन्द करनी हैं या मैंने ?"

"फिर भी ?"

"फिर भी क्या ! जो भा जाय, वही अच्छी है।"

"मुझे तो कोई भी नहीं जँची।"

"अपना-अपना स्टैण्डर्ड होता है।"

मैं गम्भीर हो बोला, "एक बात कर सकोगी, अगर बुरा न मानो

"कहिये !"

"पिता जी तक यह संकेत पहुँचा दो कि मेरा शादी का कोई विचार नहीं है।"

"लेकिन मेरे ही द्वारा क्यों ? आप स्वयं भी तो कह सकते हैं !"

मैं कोई उत्तर न दे सका। उलटे उसी के मुख की ओर देखने लग गया।

उसने गर्दन झुका ली थी। कुछ देर चुप रह कर वह चली गई।

मैं घर आया तो पिता जी बोले, "तुमने बेला से कहा था कि जिन के चित्र आये हैं, उनमें से तुम्हें कोई भी पसन्द नहीं ?"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इन्कार करते हुए बेला भी पिता जी से बात कर गई थी।

"जी !" मैं बोला।

"तुम्हें बेला-जैसी लड़की पसन्द है न ?"

मेरा आश्चर्य अब पराकाष्ठा को पहुँच गया था कि पिता जी को मेरे अन्तर का पूरा ज्ञान था। वास्तव में पिता जी तक नहीं, केवल बेला तक मैं यह बात पहुँचाना चाहता था कि उसके अतिरिक्त मुझे कोई लड़की पसन्द नहीं थी। मैं नहीं जानता था कि मेरे अन्दर की बात बेला ने ही पिता जी को बताई था यह पिता जी का स्वयं अपना अनुमान था। मैं चुप रहा तो पिता जी बोले, "गर्मियों में काश्मीर हो आओ। उसके बाद फिर निर्णय कर लेंगे।"

मेरी नई-नई सरविस लगी थी अतः अवकाश नहीं लेना चाहता था, पर पिता जी ने सब तैयारियाँ कर ली थीं। वह भी अवकाश ले कर जा रहे थे।

स्टेशन पर पहुँचा तो देखा कि बेला को विदा करने शर्मा जी और ताई जी पहुँची हुई थीं। आश्चर्य-मिश्रित खुशी से अन्दर-ही-अन्दर मेरा दिल नाच उठा। बेला साड़ी का पल्ला मुँह में रख थोड़ा हँस पड़ी थी, शायद मेरी उस छुपी हुई खुशी का अनुमान लगा कर।

काश्मीर में दो माह ऐसे कट गये जैसे दो दिन कटे हों। बेला ने

...-फिरने में मेरा पूरा साथ दिया उसका आत्म-संकोच उसी भाँति ...ल कर बहने लगा था जैसे दूर हिमालय की चोटियों पर उन दिनों ... पिघल रही थी। चाँदनी भरी एक साँझ को श्रीनगर की घाटी और ... घाटी की ओट करती हुई पहाड़ियों पर सोना-सा बिखरा हुआ था। ... और बेला एक नाव पर उस सुहावनी साँझ की मोहिनी छटा पर मुग्ध ...हो सुध-बुध खोये बैठे थे। मैं उसे देखता और वह मुझे और फिर दोनों उस प्यारी फिजा को देखते जिसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ रहा था।

"खो-से गये आप तो?"

उत्तर देने की अपेक्षा मैंने केवल उसकी ओर मुँह कर लिया।

"आप दो-तीन साल क्यों नहीं आये पहाड़ पर?"

"यह प्रश्न तो तुम पहले भी कभी कर चुकी हो।"

"बड़ा याद रखते हैं, आप! पर तब भी उत्तर तो सन्तोषजनक नहीं दिया था?"

"हर प्रश्न का उत्तर कहाँ होता है दुनिया में, बेला?"

"जैसे?"

"जैसे तुम स्वयं एक प्रश्न हो। मोम की भाँति द्रवित होने का स्वभाव पाकर भी चट्टान की भाँति कठोर हो उठी हो। यह क्या प्रश्न नहीं? तुमने अपने अन्दर संगीत भर रखा है पर वह कभी झंकृत नहीं होता। यह क्या प्रश्न नहीं? अपने ऊपर तुम्हारा यह अन्याय इतना प्रबल आत्म-नियन्त्रण केवल इसी लिये तो है कि अपनी खुशियों के लिये मैं तुम्हार... अवलम्बन न ले सकूँ?...लेकिन बेला, मेरा स्वार्थ केवल इतना ही कि मैं तुम्हें खुश देखता रहूँ। यदि तुम कुछ और समझती हो, तो फि... ठीक से मुझे नहीं समझ पाई।"

कहते-कहते मेरा गला रुँध-सा गया था पर बेला तो मानो चे... ही खो बैठी थी। उसकी आखें तरल हो उठी पर फिर जल्दी ही ... अपने को संयत कर लिया।

नाव झील की छाती पर घूमती रही। एक शीतल बयार का स्पर्श ऊन के गर्म कपड़ों में भी महसूस हो रहा था।

मैं बोला, "काफी देर हो गई है, घर चलें।"

"मेरा साथ बुरा लग रहा है न आपको ?"

मैं पागल-सा हो उठा था।

स्वर में दर्द भर कर बोला, "यह क्या बेला कि कभी रुलाती हो, कभी हँसाती हो ? तुम्हारे साथ तो मृत्यु भी अच्छी लगेगी।"

"इस प्यारी फिज़ा में आप को 'डिस्टर्ब' जो कर दिया मैंने।"

"यह तुम कैसे कह सकती हो कि पहले मैं डिस्टर्ब्ड नहीं था ! यह तो नजर-नजर के चिराग हैं; कहीं जलते हुए दिखाई देंगे तो कहीं बुझते हुए। खिज़ाँ में तीरगी नहीं होती और न बहारों में ही रोशनी। कवि का कथन है यह, मेरा नहीं।"

बेला ने एक ऐसी दृष्टि मुझ पर डाली कि मुझे विश्वास नहीं हुआ। यदि पहचानने में मुझ से भूल नहीं हुई, तो वह ऐसी दृष्टि थी जो एक बहार क्या, जीवन में चिर वसन्त ला सकती थी।

नाव से उतर कर हम फूलों से भरे बाग में से गुजर रहे थे। फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध मादक-सी लग रही थी। एक क्यारी में गुलाब का पौधा फूलों से ढका हुआ था। बेला एक फूल तोड़ कर मेरे पास आई और एक टक मेरे मुख पर कुछ क्षण दृष्टि स्थिर कर बोली, "इस फूल को मेरे जूड़े पर लगा दीजिये।"

मैं गहनतम आश्चर्य में डूब गया। बेला मेरे हाथों शृङ्गार की माँग कर रही थी।

वह पीठ मेरी ओर करती हुई बोली, "आप रुक क्यों गये ? लगाइये न !"

मैं उसके जूड़े में फूल लगा कर उसे सूँघने लगा। वह बहाना था। वस्तुतः मैं उसके अलकों के सौरभ को नासा-पुटों में भर रहा था। वह निश्चल हो खड़ी रही। मेरे बाजू उसके कन्धों को छू गये, फिर भी उसने गति नहीं

की। मैंने उसे छाती से लगा लिया तो वह बेहोश-सी होकर मेरे वक्ष पर लुढ़क पड़ी।

हम काफी रात-बीते घर पहुंचे तो बेला के जूड़े में फूल गुंथा हुआ देख पिता जी आंखों में अद्भुत चमक दिखाई दी।

अवकाश बिता कर हम दिल्ली पहुंचे तो तुरन्त हमारी सिविल मैरिज हो गई। मैं आश्चर्य में था कि यह सब कुछ अचानक कैसे हो गया। पर सुहाग-रात को बेला ने मेरी शंका का समाधान कर दिया।

आदि से लेकर अन्त तक अपनी विस्तृत जानकारी से अवगत कराती हुई बोली, "आपके पिता जी ने पहले भी प्रस्ताव रखा था पर वह प्रस्ताव तब पिता जी को अमान्य लगा। वह जात-बिरादरी से बाहर मुझे नहीं देना चाहते थे। दुबारा फिर जैसी फटकार रोज पिता जी और माता जी को मिलती रही, उसका कुछ तो आभास आपको है ही, कुछ नहीं। पिता जी को आखिर सहमत होना ही पड़ा, पर इतनी हिम्मत नहीं कर सके कि मेरे समक्ष पुनर्विवाह का प्रस्ताव रख सकें। यह काम भी आपके पिता जी को करना पड़ा। मुझे कश्मीर साथ ले लाने का अर्थ केवल यह परखना था कि मानसिक रूप से मैं आपको वरण करने को तैयार हो पाई थी या नहीं। मेरे जूड़े में गुंथे हुए फूल को देख कर उन्हें अपनी जिज्ञासा का उत्तर मिल गया था।"

"ओह!" एक दीर्घ निश्वास छोड़ी मैंने और बोला, "तुम्हारी इच्छा जानने को पिता जी अवकाश ले कर कश्मीर पहुंचे और मेरी इतनी उपेक्षा कि एक बार भी नहीं पूछा।"

"वह जानते थे कि उनके घर में मजनू ने अवतार ले रखा है।"

धूर्त कहीं की—मन-ही-मन बड़बड़ाया मैं, किन्तु प्रकट में बोला, "मेरे विरुद्ध इतना बड़ा षड्यंत्र!"

"यह आप अपने पिता जी से पूछें।"

"तुम्हारे चाचा जी से नहीं?"

"जी नहीं, मेरे ससुर से।"

# आठ

बेला का जर्नलिज्म का कोर्स चल रहा था। मैं सुबह दफ्तर चला जाता तो वह भी यूनिवर्सिटी चली जाती। दोपहर बाद क्लासिज समाप्त होने पर रोज वह दरियागंज अपने पीहर हो आती और फिर संध्या को जाकर लौटती। बेला को पिता जी और माता जी इतना चाहते थे कि उसका इस प्रकार उनकी नजरों से ओझल रहना उन्हें कष्टदायक प्रतीत हो रहा था। पर वह मजबूर थे। वह जानते थे कि बेला अपने माता-पिताजी की एकलौती लड़की थी और समस्त आकर्षणों का केन्द्र। पर जब मैं भी कई-कई दिनों तक शर्मा जी के यहाँ कभी रह जाता तो पिता जी शिकायत करने लग जाते।

रविवार को मैं जरा देर से उठता था। माता जी स्वयं चाय की ट्रे लेकर रविवार के दिन सुबह ही एक रोज हमारे कमरे में आई तो बेला लजा कर टूट-टूक हो गई। वह भी अभी तक बिस्तर पर लेटी थी। आँखें तो उसकी खुल गई थी पर पास में मुझे सोता देखकर उसे आलस्य आ रहा था। उनींदी आँखों में अभी नींद की खुमारी भरी थी। माता जी के हाथ से चाय की ट्रे छीनती हुई बोली, "आप क्यों ले आईं चाय, मैं आ ही रही थी।"

बेला कह तो गई पर शर्म से लाल हो उठी थी।

माता जी ने कपोलों पर उसके वह लालिमा देखी तो केवल हँस दी और बेला के माथे का चुम्बन लेकर बोली, "इसे भी उठा दे। चाय पीकर चाहे फिर सो जाय।"

माता जी के चले जाने के बाद बेला मुझे झकझोरती हुई बोली, "उठिये, सात बज गये हैं। आप मुझे भी बदनाम करेंगे।"

मैं अनिच्छा प्रकट करता हुआ बोला, "नींद नही टूटती—तीन घण्ट

की। मैंने उसे छाती से लगा लिया तो वह बेहोश-सी होकर मेरे वक्ष पर लुढ़क पड़ी।

हम काफी रात-बीते घर पहुंचे तो बेला के जूड़े में फूल गुंथा हुआ देख पिता जी आंखों में अद्‌भुत चमक दिखाई दी।

अवकाश बिता कर हम दिल्ली पहुंचे तो तुरन्त हमारी सिविल मैरिज हो गई। मैं आश्चर्य में था कि यह सब कुछ अचानक कैसे हो गया। पर सुहाग-रात को बेला ने मेरी शंका का समाधान कर दिया।

आदि से लेकर अन्त तक अपनी विस्तृत जानकारी से अवगत कराती हुई बोली, "आपके पिता जी ने पहले भी प्रस्ताव रखा था पर वह प्रस्ताव तब पिता जी को अमान्य लगा। वह जात-बिरादरी से बाहर मुझे नहीं देना चाहते थे। दुबारा फिर जैसी फटकार रोज पिता जी और माता जी को मिलती रही, उसका कुछ तो आभास आपको है ही, कुछ नहीं। पिता जी को आखिर सहमत होना ही पड़ा, पर इतनी हिम्मत नहीं कर सके कि मेरे समक्ष पुनर्विवाह का प्रस्ताव रख सकें। यह काम भी आपके पिता जी को करना पड़ा। मुझे कश्मीर साथ ले लाने का अर्थ केवल यह परखना था कि मानसिक रूप से मैं आपको वरण करने को तैयार हो पाई थी या नहीं। मेरे जूड़े में गुंथे हुए फूल को देख कर उन्हें अपनी जिज्ञासा का उत्तर मिल गया था।"

"ओह !" एक दीर्घ निश्वास छोड़ी मैंने और बोला, "तुम्हारी इच्छा जानने को पिता जी अवकाश ले कर कश्मीर पहुंचे और मेरी इतनी उपेक्षा कि एक बार भी नहीं पूछा।"

"वह जानते थे कि उनके घर में मजनू ने अवतार ले रखा है।"

धूर्त कहीं की—मन-ही-मन बड़बड़ाया मैं, किन्तु प्रकट में बोला, "मेरे विरुद्ध इतना बड़ा षड्‌यंत्र !"

"यह आप अपने पिता जी से पूछें।"

"तुम्हारे चाचा जी से नहीं ?"

"जी नहीं, मेरे ससुर से।"

# आठ

वेला का जर्नलिज्म का कोर्स चल रहा था। मैं सुबह दफ्तर चला जाता तो वह भी यूनिवर्सिटी चली जाती। दोपहर बाद क्लासिज समाप्त होने पर रोज वह दरियागंज अपने पीहर हो आती और फिर संध्या को जाकर लौटती। वेला को पिता जी और माता जी इतना चाहते थे कि उसका इस प्रकार उनकी नजरों से ओझल रहना उन्हें कष्टदायक प्रतीत हो रहा था। पर वह मजबूर थे। वह जानते थे कि वेला अपने माता-पिताजी की एकलौती लड़की थी और समस्त आकर्षणों का केन्द्र। पर जब मैं भी कई-कई दिनों तक शर्मा जी के यहाँ कभी रह जाता तो पिता जी शिकायत करने लग जाते।

रविवार को मैं जरा देर से उठता था। माता जी स्वयं चाय की ट्रे लेकर रविवार के दिन सुबह ही एक रोज हमारे कमरे में आई तो वेला लजा कर टूट-टूक हो गई। वह भी अभी तक बिस्तर पर लेटी थी। आँखें तो उसकी खुल गई थीं पर पास में मुझे सोता देखकर उसे आलस्य आ रहा था। उनींदीं आँखों में अभी नींद की खुमारी भरी थी। माता जी के हाथ से चाय की ट्रे छीनती हुई बोली, "आप क्यों ले आईं चाय, मैं आ ही रही थी।"

वेला कह तो गई पर शर्म से लाल हो उठी थी।

माता जी ने कपोलों पर उसके यह लालिमा देखी तो केवल हँस दी और वेला के माथे का चुम्बन लेकर बोली, "इसे भी उठा दे। चाय पीकर चाहे फिर सो जाय।"

माता जी के चले जाने के बाद वेला मुझे झकझोरती हुई बोली, "उठिये, सात बज गये हैं। आप मुझे भी बदनाम करेंगे।"

मैं अनिच्छा प्रकट करता हुआ बोला, "नींद नहीं टूटती। तीन घण्ट

हो तो सो पाया हूँ।"

वेला ने सुना तो दाँतों-तले जीव दवाली। "धीरे बोलिये ज़रा। चाय रखी है, उसे पी लीजिये।"

चाय पीकर फिर लेटने की इच्छा हो रही थी, पर वेला ने विरोध किया। मैं दूसरे कमरे में आ गया तो माता जी बोलीं, "वेला क्या कर रही है?"

"शायद गुसलखाने में है।"

"तुम भी तैयार हो जाओ और जाकर इरा को ले आओ।"

हम दोनों तैयार हो गये तो वेला माता जी से बोली, "इरा को तो शायद ही माँ भेजे। उससे उनकी तवीयत बहली हुई रहती है।"

माता जी प्यार भरे गुस्से में बोली, "तुझे तो माँ का ही मोह बना रहता है। मैं क्या अकेली नहीं रहती? जब तेरी शक्ल देखनी मुश्किल हो रही है, तभी तो इरा को बुला रही हूँ।"

हम इरा को नई दिल्ली अपने घर ले आये पर वेला की माता जी और मेरी माता जी के बीच इस बात पर युद्ध छिड़ गया था। वेला की माँ कहती थी कि मेरी माँ ने वेला और इरा को उससे छीन कर उसे अनाथ बना दिया था और माता जी का कहना था कि बेटा अब उनका न होकर अपने सास-ससुर का हो गया था। मैं और वेला प्रेम की इस दुतरफा बौछार में बुरी तरह भींग रहे थे—एक असीम आनन्द प्राप्त होता था हमें।

शर्मा जी एक दिन पत्नी सहित इरा को लेने आये तो पिता जी से बोले, "यह आग तुम्हारी लगाई हुई है माथुर! अब करो इस गृह-युद्ध को शान्त।"

पिता जी हँस पड़े थे। वेला की माँ को सम्बोधित करते हुए बोले, "भाभी! बेटी-दामाद तुम्हारे हैं पर साथ ही वे बेटा-बहू हमारे भी हैं। सारा सुख तुम्हीं पाओ, यह शैलेन्द्र की माँ कैसे सहन करेगी! कुछ कानून बना लो आज।"

मैं और बेला दर्शक हो प्यार के उस व्यवस्थापक की उछल-कूद देख रहे थे। बेला की माँ हँसती हुई बोलीं, "भाई साहब! कानून तो खैर बना लेंगे, पर यह तो बताइये कि अब भी बेला मामी ही कहेगी?"

हँसी की एक तेज फुहार से कमरा भीगता हुआ-सा महसूस हुआ। पिता जी हँसी की इसी तरंग में बोले, "मामी! पहले शैलेन्द्र से तो अपने को सास कहलवाया होता।"

"उसने तो 'ताई' कहना छोड़ ही दिया है। 'आप' करके बातें करता है अब हमारा दामाद।"

"क्यों शैलेन्द्र! यह सच है क्या?" पिता जी बोले।

"यह प्रश्न तो पहले बेला से कीजिये, पिता जी, क्योंकि उसने आपको पहले 'चाचा' कहना छोड़ दिया।"

"क्यों बेटी?" अब पिता जी बेला से जवाबदेही करने लगे थे।

"बेटी नहीं, बहू ही कहिये, पिता जी अब," बेला उत्तर देकर हँसती हुई दूसरे कमरे में खिसक गई।

पिता जी की हार का शर्मा जी, बेला की माँ और माता जी उपहास कर रहे थे—खूब हँस रहे थे कि तभी पिता जी ने घोषणा की—

"रिश्तों के नाम में अन्तर आ गया है, पर रूप वही है। इस रिश्ते की मौलिकता भंग न हो, केवल इसीलिये, मेरा आग्रह ही नहीं, 'रूलिंग' है कि सम्बोधन का रूप पहले-जैसा ही रहे।"

और वास्तव में तब से फिर मैं ससुराल आकर शर्मा जी को ताऊ जी और बेला की माँ को ताई जी कह कर पुकारने लगा और उसी भाँति बेला भी माता जी पिता जी को चाचा और चाची जी कह कर सम्बोधित करने लग गई। पहले तो उसे कुछ सकोच हुआ, पर एक-दो रोज में ही वह दुबारा चाचा-चाची कह कर पुकारने की अभ्यस्त हो गई।

हमारे दिन मजे में कटने लगे। बेला बचपन से ही परिष्कृत रुचि रखती थी। विनोद और हास-परिहास का अजीब-सा अन्दाज था उसका। पर विगत कुछ वर्षों से आत्म-नियन्त्रण और प्रवञ्चना ने उसकी मौलिकता

नष्ट कर दी थी। उसके अन्तर के स्रोत को सुखा दिया था। पर अब वह स्रोत प्यार की रिमझिम पाकर निर्झर के समान नहीं, अपितु बरसाती नदी के समान वहने लगा था। पहले उसके सौन्दर्य से केवल मेरी आँखों पर सेक पहुँचता था, अब वह मेरे दिल और दिमाग पर नशा-सा बनकर छा गई थी।

नित्य उसके लिए नई-नई साड़ियाँ, नये आभूषण खरीदे जा रहे थे। उन्हें पहन कर उसके मोहिनी रूप पर उत्तरोत्तर निखार आ रहा था। उसकी चकाचौंध बढ़ती जा रही थी। उसके बाह्य सौन्दर्य का प्रभाव उसकी कलात्मक अभिरुचियों पर भी पड़ रहा था।

एक बार पिता जी और माता जी को सम्बन्धियों के यहाँ लखनऊ जाना पड़ा तो बेला बाजार से घुंघरू खरीद ले आई।

रात को टहलने के बाद होटल से ही भोजन कर हम घर पहुँचे तो बेला बोली, "आपको तबला बजाना तो आता था पहले?"

"तबला ही क्या, हारमोनियम और सितार भी बजा सकता हूँ।"

वह कपड़े बदलने दूसरे कमरे में चली गई। मैंने भी नाइट-सूट पहना और पलंग पर जाकर सुस्ताने लगा। आवश्यकता से अधिक समय लगा कर जब बेला वापस सोने वाले कमरे में आई तो वह साधारण लिबास में नहीं थी। शृङ्गार कर वह अप्सरा-सी लग रही थी। देह पर नृत्यांगना का परिधान और पैरों में घुंघरू थे।

तबला मेरे समक्ष रखती हुई बाँकी अदा में बोली वह, "थाप दीजिये, आपको नाच दिखाऊँगी।"

मेरी मुग्ध दृष्टि उस वेश में उसके भड़कीले सौन्दर्य से चौंधियाँ गई थी।

"अधिक मजनू न बनो, आप ही के पास हूँ। जी भर कर देख लीजियेगा बाद में।" बेला ने नृत्य आरंभ कर दिया। उसके पगों में धीरे-धीरे गति आने लगी। कमर पर बल पड़ने शुरू हो गये और वह चक्कर पर चक्कर खाने लगी। आधा घण्टा-घण्टा और उसके बाद न जाने कितनी

देर तक तन्मयता के साथ वह नृत्य करती रही। उसकी मुद्रा बदलती गई। कभी मीरा का आराधना-भाव, कभी मेघ-मल्हार गाती हुई विरहिन की मुद्रा तो कभी इन्द्र की महफिल में नयनों से बाण छोड़ती हुई उर्वशी के सम्मोहक अभिनय को वह नृत्य द्वारा प्रस्तुत करती गई। पसीने के कण उसके माथे पर झलमला उठे तो हाथ से खींचते हुए मैंने उसे अंक मे बिठा लिया।

"अब अधिक कष्ट न दो, अपने लचीले बदन को।"

"पसन्द आया आपको नृत्य ?"

"बहुत! अब लेट जाओ। थक गई हो।"

"घुंघरू भी न उतारूँ ?" वह हँस पड़ी।

मैं सोचता था कि बेला थक गई होगी पर मुस्करा कर वह गुसलखाने गई और मुँह धोने के बाद वापस आकर बोली, "चलिये छत पर चलें। चाँदनी छिटक रही है।" बाद में बेला छत पर दो कुर्सियाँ बिछा कर बोली, "मैं सितार बजाती हूँ, आप कोई गीत सुनाइये।"

"बाप रे बाप, यह काम अपने बस का नहीं। हाँ, सितार बजा सकता हूँ।"

"कुछ तो गाइये।"

"नहीं, तुम।"

वह कृत्रिम रूप से चिढ़ कर बोली, "नाच भी मैं दिखाऊँ, गाना भी मैं गाऊँ, और आप ?"

"मैं नाच देखता रहा, अब गाना सुनूंगा। कम है क्या इतना ?"

बेला हँस पड़ी। मेरी ठुड्डी हिलाती हुई बोली, "मुझे ही झुकाओगे हर समय।"

वेला ने फिर सितार के तार छेड़ दिये और उसकी झंकार के साथ अपने कण्ठ के स्वर को मिलाती हुई गाने लगी।

मधुर-सा गीत गूँज उठा वातावरण में।

वह समाप्त कर चुकी तो मैं बोला, "काश्मीर की घाटी में यह गीत

गाया होता तो कितना साम्य होता गीत और उसके भाव में।"

"क्यों ? क्या गीत वातावरण के अनुरूप नहीं था ?"

"यह जौक और गालिब की दिल्ली है। गजल ज्यादा मुआफिक है।"

"तो यों क्यों नहीं कहते कि गजल सुनाऊँ। मनचले हो न !"

मैं केवल हँस दिया।

फिर मेरी फरमाइश बढ़ती गई और बेला का कण्ठस्वर गूंजता रहा।

अगली सुबह जब हम उठे तो आठ बज रहे थे।

दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर जब दोनों तैयार हो गये तो मैं बोला, "बेला, आज भोजन करने दरियागंज चलें।"

बेला आलस्य दिखाती हुई बोली, "नहीं, होटल में ही खा लेंगे।"

"दो दिन हो गये, हम वहाँ नहीं गये।"

वह खिसक कर मेरे पास आ गई और मेरे कन्धों पर सिर रख कर बोली, "आजकल बिल्कुल एकान्त है। इन घड़ियों को एकान्त में ही गुजर जाने दीजिये।"

"लेकिन इरा भी तो है उधर।"

"शाम को थोड़ी देर के लिए उसे लेने चले जायेंगे।"

"मैं दफ्तर भी न जाऊँ ?" मैंने प्यार से उसकी ओर देखा।

उसने मेरी आँखों में आँखें डाल कर एक मोहित प्रहार किया। मैं समझ गया कि वह मेरे प्यार के नशे में डूबी हुई थी।

बेला की प्रकृति से मैं भली-भाँति परिचित था। राघव से शादी होने के पूर्व वह रस-भरी गागर थी, पर तब छलकती नहीं थी। संयम और शालीनता थी उसके व्यवहार में। राघव से शादी हो जाने के बाद उसका आचरण एक साध्वी स्त्री-जैसा हो गया यानी तब वह पवित्र जल-कलश सी दिखाई देती थी। अब वह एक तेज शराब-सी बन गई थी जिसे देखते ही नशा हो आता था। इस शराब की बोतल में से वह मुझे प्यार के जाम पर जाम भर कर पिला रही थी, मानो देह-रूपी उस बोतल में पहले उसकी जवानी उबल कर शराब न बन पाई थी और शायद जैसे मेरे रूप

और आकर्षण की मट्टी की ही उसे प्रतीक्षा रही हो।

मैंने उसे छेड़ा, "क्या बात है बेला ? बहुत ही खुश हो !"

"तुम्हें कैसी दिखाई देती हूँ ?"

"मैंने कभी तुम्हें इतना मस्तूह, इतना मस्त नहीं पाया।"

"तुम्हारी दी हुई मस्ती तो है यह। न आते मेरे जीवन में यों मधु-वर्षण करते हुए।"

"पर शायद देर से आया।"

"शीघ्र आने पर पाबन्दी तो नहीं थी।"

"दिया था तुमने निमन्त्रण ?"

"भ्रमर निमन्त्रण प्राप्त कर ही क्या मँडराया करते हैं ?"

"मँडराता तो था, फूल की पंखुड़ियों पर बैठ न सका।"

"उसके लिए मैं जिम्मेदार तो नहीं हो सकती।"

"पर मैं भी नहीं, एक दूसरा ही भ्रमर रसपान जो कर रहा था।"

बेला सजा कर कुछ उदास हो गई। मेरे सामीप्य से उसका रक्त खौल रहा था। पर मेरे अन्तिम शब्दों ने उस पर ठण्डा छींटा-सा मार दिया। उसका वह मस्ती का आलम समाप्त हो गया। उसने मेरे कन्धों का सहारा छुटा लिया और सँभल कर बैठ गई।

"क्या हुआ ?" मुझे अपनी भूल अखरने-सी लगी। राघव का परोक्ष में उल्लेख जो कर डाला था मैंने।

"कुछ नहीं। वास्तव में पागल हो गई हूँ मैं कुछ दिनों से। आप भी क्या सोचते होंगे ?"

"नहीं बेला, ऐसी बात नहीं। तुम्हारा यही पागल का रूप तो मुझे अच्छा लगता है। इतनी साधना करने पर उस रूप को देखने में सफल हुआ हूँ।"

"यह तो आपकी शालीनता है। उस रूप से मैं दूर थोड़े ही पाई हूँ।"

"छी-छी, ऐसे विचार न लाओ मन में, वरना दुख दोगी तुम मुझे।"

वह चुप हो गई पर मुझे बड़ा दुःख हो रहा था कि अकस्मात् शह-
यों की गूंज में यों मृत्यु का रुदन स्वर कहां से मिल गया। वेला
नी भावुक युवती थी, उसकी एक स्पष्ट झलक मुझे मिल गई। कई
र मन में मेरे विचार आता था कि उसके राघव के साथ बिताये जीवन
र चर्चा करूं पर शंका रहती थी कि कहीं वह विगत दुखों का स्पर्श न
हसूस करे।

आज मेरी शंका की पुष्टि हो गई थी।

मैं बोला, "क्या सोच रही हो वेला ?"

"कुछ नहीं। आप दरियागंज चलने को कह रहे थे। चलिये, इर
को लेते आयें।"

"शाम को ही न ?"

"नहीं, आप ऑफिस चले जायें। क्या फायदा यों बिना मतलब छुट्टी
लेने से ?"

मैं कुछ निश्चित नहीं कर पा रहा था कि कैसे उस गांठ को खोलूं
जो अचानक हमारे मुक्त वार्तालाप में पड़ गई थी।

सोच कर मैं बोला, "मेरी ओर शारीरिक आकर्षण ही रहा है वेला
तुम्हारा···विश्वास नहीं करोगी ?"

वह झुक गई। "नहीं-नहीं, ऐसा न सोचिये।"

"तो फिर गांठ को खोल ही दो न ?"

"कुछ छुपाऊंगी आप से ?"

"तुम्हारा मूड क्यों बदल गया अचानक ?"

वह चुप हो गई।

मैं बोला, "कितनी ही वर्षा क्यों न करूं, तुम्हें हरा-भरा देखने को, प
फिर भी कभी-कभी तुम तप ही जाती हो, क्योंकि अन्तर के किसी को
में कोई दीप जो जल रहा है अतीत का।"

वह सोच कर बोली, "आप शायद ठीक कह रहे हैं ?"

"उसे अभिशाप समझ कर बुझा क्यों नहीं देतीं ?"

"घुमाने के लिये ही तो आपका दामन पकड़ा था—वरदानों की इतनी बड़ी कड़ी थी। पर लगता है कि कोई अज्ञात स्थल दग्ध रह ही गया है अभी तक।"

"मुझ पर भरोसा तो है न?"

यों शंका प्रगट कर मुझे दुख न दीजिये।"

"जब चर्चा छिड़ ही गई है तो पूछना चाहता हूँ कि मन के तराजू पर मेरे और राघव के सहचर्य की विपरीत पलड़ों पर रखने से कौन-सा पलड़ा तुम्हें भारी लगता है?"

बेला को मेरे प्रश्न की जकड़ से अपना साँस घुटता हुआ-सा महसूस हुआ।

वह कातर स्वर में बोली, "जिस जीवन को भुला रही हूँ, आप उसी से तुलना कर रहे हैं मेरे वर्तमान की?"

"कोई ईर्षा वश नहीं, तुम्हारी मानसिक स्थिति का अन्दाजा लगाना चाहता हूँ ताकी तुम्हें खुश रखने में सहायक बन सकूँ।"

"मैं कुछ नहीं जानती। आपने दूसरे भ्रमर का उल्लेख किया तो अतीत की परछाईं पड़ गई मन पर।"

"लेकिन मन की वर्तमान स्थिति पर घृणा क्यों हो आई तुम्हें जो पागलपन की संज्ञा दे बैठी उसे?"

बेला झुँझला कर निर्बल-सी पड़ गई "न कीजिये मुझ से ऐसे प्रश्न, जिनका उत्तर मैं स्वयं नहीं जानती। यदि आप कुछ विश्लेषण कर सकते हैं तो मैं भी सुन लूँगी।"

"राघव के साथ भी तुम इसी भाँति प्रसन्न अथवा कुण्ठित होती थी?"

बेला सोच कर बोली, "प्रसन्नता मन की देन है। वह भी मेरे पति थे, प्रसन्न क्यों न रहती!"

"लेकिन तब तुम घुटी-घुटी-सी रहती थीं?"

"वह तो परिस्थिति-विशेष के कारण। उनसे कोई असन्तोष तो नहीं

।"

"राघव में तुम क्या तुम उतना ही आकर्षण पाती थीं जितना कि ...फ में ?"

वेला चुप हो गई।

"बोलो न, वेला !"

"क्या बोलूं ?" मानसिक थकान लक्ष्य हुई उसके स्वर में।

"अच्छा, रहने दो, तुम परेशान हो गई मालूम पड़ती हो।"

थोड़ी देर चुप रह कर गम्भीर हो वेला बोली, "प्रत्येक मनुष्य का अपना-अपना व्यक्तित्व होता है और अपना-अपना आकर्षण। उनके अन्दर बाह्य आकर्षण नहीं था, ऐसा मेरा अनुमान है, तभी तो वह बाह्य आडम्बर से किसी को प्रभावित नहीं कर पाते थे। पर मैं उनकी पत्नी थी, दूर अन्तस्तल में गोता लगा चुकी थी। उनके आन्तरिक आकर्षण का पता चल गया था मुझे। कह नहीं सकती कि ठीक हूं या गलत। पति में विलीन हो जाने पर वैसे पत्नी की रुचि विचार और मान्यताएँ पति जैसी हो जाती हैं, अतः उसके लिये पति के गुण और अवगुणों में भेद करना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो जाता है। क्योंकि वह मेरे पति थे और आप भी मेरे पति हैं—कैसे भेद करूँ कि किसका आकर्षण प्रबल है। यह तो देखने वाले ही बता सकेंगे कि किसके साहचर्य में मुझ पर ज्यादा आकर्षण आया है। यही एक कसौटी है किसी पति के व्यक्तित्व और आकर्षण को परखने की, क्योंकि पत्नी के व्यक्तित्व और आकर्षण पर प्रतिबिम्ब पड़ता ही है पति का।"

वेला ने बोलना समाप्त किया तो मैं चकित-सा रह गया। उसक कथन स्पष्ट, निष्पक्ष और विश्लेपणपूर्ण था। शायद इतनी सचाई के सा मैं भी अपने प्रश्न का उत्तर न दे पाता। वेला के कथन में मेरे प्रति विश्वास और सचाई परिलक्षित होती थी। मैं सन्तुष्ट होकर सोचने ल कि वेला से उसके अतीत के सम्बन्ध में बातें कर मैं उसे दुख तो पहुँच हूँ पर ऐसी कोई चीज नहीं खोज पा सकता था, जो उसके व्यवहा

मुझ से छुपी रही हो।

राघव के व्यक्तित्व का अनुमान तब बेला के सात्विक रूप को देख कर ही लगाया जा सकता था। तब वह ममत्व और आत्म-संवेदना से परिपूर्ण थी—भावुक, संकोचशील, त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति-सी। ये सब बातें वैभव-सम्पन्न, ऐश्वर्यवान व्यक्ति की पत्नी में नहीं पाई जाती। ये आन्तरिक सौन्दर्य के प्रतीक हैं जिनमे एक मीठी झलक होती है पर जिनका रसास्वादन केवल कलाकार और अन्तःचक्षु रखने वाले व्यक्ति ही कर पाते हैं। साधारण व्यक्ति टीप-टाप देखता है। यौवन का वेग, वैभव-विलास, हाव-भाव और शक्ति का घमण्ड—यही बाह्य आकर्षण होते हैं। बेला का आन्तरिक सौन्दर्य तो प्रकट हो ही गया था, अब बाह्य आकर्षण उसके साज-शृङ्गार, वैभव-विलास और हाव-भाव में परिलक्षित होने लगे थे। क्योंकि अब किसी भौतिक प्रभाव का प्रतिबिम्ब उसके व्यक्तित्व पर नहीं पड़ रहा था।

मैंने आफिस से न केवल उसी रोज का अवकाश लिया अपितु अगले दिन की भी छुट्टी ले ली। दरियागंज आ कर हमने भोजन किया और दोपहर की गाड़ी से ताजमहल देखने आगरा चले गए। ५ बजे हम आगरा पहुंचे। दयालबाग से इरा के लिये संगमरमर और गत्ते के कुछ खिलौने लिये और संध्या होते ही हम ताजमहल पहुंच गये। ताज शुद्ध चाँदनी में स्फटिक की भाँति चमक रहा था। हम ताज के लॉन में जूतों को उतार टहलने लगे। हमने ताज के अग्र भाग में श्वेत संगमर्मर के बने फर्श पर बैठ कर फोटो खिचवाई और फिर चाँदनी में नहाये ताज का सौन्दर्य अवलोकन करने लग गये।

बेला शान्त और पुलकित थी, ऐसा मैंने अनुमान लगाया क्योंकि ताज के सौन्दर्य और ज्योत्स्ना के आंचल में डूबी हुई वह नीरवता उसे किसी दूसरी ही दुनिया में ले चले थे। वह मेरा बाँया हाथ पकड़े खोई हुई-सी थी।

मैं बोला, "ताज केवल एक मजार ही है, पर कलात्मक वस्तु भावना

को कितना उठा देती है ! यहाँ हमें अतृप्त तृष्णा की अनुभूति नहीं होती अपितु पूर्णता-प्राप्त शान्ति का संचार होता है। ताज मुहब्बत का प्रतीक है, पर ऐसी मुहब्बत का नहीं जो मजारों में रुदन करती-सी महसूस हो, बल्कि ऐसी मुहब्बत का जो पूर्णता प्राप्त कर गौरवान्वित हो उठी है। ताज के कलात्मक सौन्दर्य में पूर्णता-प्राप्त प्रेम की भव्यता पूर्णरूप से समुज्ज्वल है।"

बेला मेरी हथेली पर अपना हाथ रख उसे धीमे-धीमे मसलती जाती थी।

"अपने अन्दर भी तुम इस भव्यता को महसूस कर रही हो या नहीं ?" मैंने पूछा।

कुछ उत्तर न देकर उसने मेरे कन्धों पर अपना सिर रख दिया। स्पष्ट था कि वह अपनी कल्पना में इस समय अपने को शायद मुमताज और मुझे शाहजहाँ के रूप में प्रतिष्ठित किये दो-तीन सौ साल पीछे चली गई थी।

"बेला ! दिल की वह पीड़ा तो जाती रही न जिसमें कराहती हुई तुम सुबह मुझे दफ्तर में जाने को कह रही थीं।"

बेला लुढ़क-सी गई मुझ पर।

"शैलेन्द्र ! मुझे सो जाने दो अपनी गोद में, ज्यादा नहीं तो कम-से-कम घड़ी-दो-घड़ी ही सही।"

भावुकता के प्रवाह में बहते हुए उसने पलकें मूँद ली थीं।

दिन बीतते जाते थे। हमारा प्रेम भव्यता प्राप्त करता जा रहा था। बेला से मैं कभी कुछ पूछ बैठता तो वह उत्तर देती, "डर लगता है कभी अपने सौभाग्य पर। इतना सुख क्या किसी के नसीब में होगा, जितना मुझे आपने दिया है।"

सुन कर मैं विह्वल-सा हो उठता।

मेरी एक और वर्षगाँठ आई। इरा को गोद में ले कर बेला ने उससे केक कटवाया। फिर इरा की वर्षगाँठ आई और मैंने केक काटा।

केक काटने का काम बेला से छूट कर मेरे और इरा के पास आ गया था, पर वर्षों पीछे मेरे मुँह में केक का टुकड़ा ठूँसने की जिस क्रिया का बेला ने परित्याग कर दिया था, उसे अब वह पुनः सम्पादित करने लगी थी। जन्म-दिनों की इस कड़ी में एक जन्म-दिन और जुड़ गया। बेला फिर माँ बन गई थी। नवजात शिशु का नाम सुमन रखा गया। यद्यपि मेरा प्रस्ताव कुछ और ही था; पर क्योंकि बेला ने तब जर्नलिज्म का डिप्लोमा प्राप्त कर लिया था—पत्रकार बन गई थी, उसका चयन सभी को मंजूर हो गया। बेला और सुमन अनुरूप ही नाम थे माँ-बेटे के।

इरा और सुमन को ले कर हम अगली गर्मियों में अवकाश ले कर नैनीताल पहुँच गये। बेला सुमन को ले कर मस्त रहती और मैं इरा को गोद में उठा कर नाचता फिरता। पिता जी और शर्मा जी मेरे चार प्राणियों के परिवार पर हर घड़ी न्योछावर रहते थे। नैनीताल में मल्लीताल के दाहिने पार्श्व में स्थित एक ऊँची-सी जगह पर हमने बँगला किराये पर ले रखा था। साथ में दो माह के लिये एक आया नियुक्त कर ली थी।

# नौ

## बेला के स्वरों में

दलेन्द्र कभी मुझ से राघव की चर्चा नहीं करते थे। उनकी प्रकृति सरल और उदार थी। राघव की भाँति वह किसी भावना-विशेष से ग्रस्त नहीं थे क्योंकि दोनों की परिस्थितियों में महान अन्तर था। राघव ऊँचे उठने लगे थे तो विधि ने उन्हें मुझ से अलग कर दिया। पति की मृत्यु

से दुखदायी और क्या बात हो सकती है स्त्री के लिये, विशेषतः तब जब कि मैं उन संस्कारों में पल कर बड़ी हुई थी जो पति को समान दर्जा न दे कर परमेश्वर के रूप में देखने की प्रेरणा देते थे। जब राघव वर के परिधान से अलंकृत हो हमारी कोठी के आँगन में बारात सहित प्रविष्ट हुए थे, तब आधुनिक वधू की भाँति मैंने उन्हें जयमाला नहीं पहनाई थी। मैंने उनकी झलक तब ली, जब विवाह की सब रीति सम्पन्न हो गई थीं। वेदी की सात परिक्रमाएँ लगाकर मैंने उनका जूठन लिया था। इन संस्कारों में पल कर राघव के प्रति मेरी भावनाओं का अनुमान लगाना कठिन नहीं होगा। अपने को उनमें विलीन कर छाया की भाँति उनके सुख और दुख बाँटने को कृत-संकल्प एक आदर्श भारतीय नारी का गौरव प्राप्त करने की आकांक्षा से मैं अनुप्राणित थी। पर विचारों की विडम्बना तो देखो कि क्या से क्या हो गया। आज न मेरे वह संस्कार रहे और न वह रूप ही। कायस्थ-परिवार की बहू बन कर उन संस्कारों से इतनी दूर चली आई हूँ कि आस्था तो क्या, रीत निभाना भी भूल गई। मैंने शैलेन्द्र को वरण कर उस रीत को तोड़ डाला। शैलेन्द्र और मैं बाल्यावस्था से सखा-भाव रखते आये थे। पत्नी-पति और फिर माँ-बाप बन कर भी वह सखा भाव हममें विद्यमान रहा। राघव के साथ ऐसी बात नहीं थी। उन्होंने भले ही मुझ से सखा-भाव रखा हो, पर मैंने उन्हें नित्य अपने से ऊँचा ही दर्जा दिया। पहले वह भोजन करते थे और फिर उनके जूठे थाल पर मैं खाना खाती थी। उनकी मृत्यु से मेरी क्या स्थिति हुई होगी, इसकी अपने ही मुँह से क्या चर्चा करूँ? समय फिर भी सब भुला देता है। राघव की मृत्यु को मैं नियति का अभिशाप समझ कर भूलती जा रही थी। जो भावनाएँ तब भी सुरक्षित रहीं, उन्हें शैलेन्द्र के पिता जी ने अपने अकाट्य तर्कों से मोड़ दे दिया था। पर जो बात मैं अन्त तक भुला न सकी, वह थी राघव की विकट कल्पना जो रीत और प्रीत के विचित्र संयोग को लेकर उपन्यास की रचना के लिए कथानक जुटा गई था। मुझे अन्त तक आश्चर्य होता रहा कि कैसे अपनी रचना में व्यक्त कल्पना के

अनुसार वह मुझे रीत निभाने को छोड़ मृत्यु का आलिंगन कर प्रीत निभा गये। उनका यह अनुमान कि मेरे जीवन में उतर कर वह मेरे दुख और कष्टों का कारण बने, उन्हें अन्त में मेरे जीवन से उठा कर उनकी कल्पना को सत्य सिद्ध कर गया।

'हाथों की चूड़ियाँ तोड़कर तुम इन्हें मुझे सौंप दो, ताकि रीत निभ जाये। मैं तुम्हारे आँचल में जीवन का माधुर्य बिखेर दूँ, ताकि प्रीत निभ जाये'—इन शब्दों को उपन्यास में नायिका को सम्बोधित करते हुए मृत्यु से पूर्व नायक के मुंह बुलवाया गया था। तो क्या सचमुच उन्होंने मृत्यु का आलिंगन इसीलिये किया कि उनकी मृत्यु के बाद मेरा आँचल जीवन के माधुर्य से भर जाय मानो उनके आने से जैसे सचमुच ही मेरी खुशी में किसी व्यवधान आने का उन्हें विश्वास-सा हो गया था। यदि कल्पना के अनुसार ही उनकी भावनाएँ थी, तो क्या सचमुच अपनी स्नेहमयी के सुखों के लिए मृत्यु का वरण करना प्रीत के दम्भ की पराकाष्ठा नहीं? उपन्यास की रचना के पश्चात् जब उपन्यास में चित्रित कल्पना के अनुसार ही घटना घट गई तो मुझे लगा कि वे अपने दम्भ को निभा गये। कल्पना को यों वास्तविकता में परिणत पाकर मैं उस दुख में भी आश्चर्यान्वित थी। मैं सोचती कि वास्तव में, जैसी कि उन्होंने कल्पना की थी, उनकी मृत्यु पर केवल हाथों की चूड़ियों को तोड़ वैधव्य धारण करना क्या एकमात्र रीत निभाना नहीं था? फिर यदि मैंने रीत ही निभाई तो कितना खोखला था मेरा वह रीत का दम्भ! महीनों तक मैं त्रस्त रही रीत और प्रीत की तुलना के इस विचार से। मैं उनकी मृत्यु को भूल गई पर उनके प्रीत के दम्भ को नहीं। मुझे कुछ ऐसा महसूस होता था कि जीवित रहते हुए शायद मुझसे उतना उत्कट प्रेम न कर सके जितना मैं उन्हें करती थी, पर मर कर मानो वह बाजी मार गये। मेरा परास्त प्रेम मुझे अपने वैधव्य से अधिक खटकने लगता। मन की इसी स्थिति में अपने को घुटी-घुटी सी महसूस करती। मुझे लगता कि मेरा अन्तर भावना-हीन था—प्रीत की मर्यादा से रहित!

जब विमान कम्पनी से राघव का सूटकेस लौटाते हुए उसमें बन्द चीजों की मुझसे रसीद ली गई, तो मेरा अन्तर हाहाकार कर उठा। पति को खोकर भी मैं उन दस हजार रुपयों का मोह न त्याग सकी जो चैक के रूप में मेरे हाथ में पकड़ा दिये गये थे। सूटकेस के अन्दर दो निहायत उम्दा जरीदार साड़ियाँ और एक मोतियों के आवरण वाला पर्स भी था। उनकी प्राप्ति स्वीकार करते हुए मेरा मन मुझे मानो धिक्कार दे रहा था। क्या अपने वैधव्य को सजाने के लिए मैंने वे चीजें स्वीकार कीं? सूटकेस के अन्दर राघव का एक चित्र था। मुझे लगा कि वह चित्र मानो बोल उठा हो कि पति की मृत्यु को रो-धोकर स्वीकार कर मानो मैं अब आगे की रीत भी निभाती चलूं। मेरी माँग का सिन्दूर पोंछ दिया गया था, हाथों की एक-एक चूड़ी को तोड़ कर अब दुनिया वाले मुझे पति की उत्तराधिकारिणी के नाते पति की छोड़ी हुई सम्पत्ति का एकमात्र स्वामित्व दे रहे थे। मैंने वह रीत भी निभाई, अन्यथा मैं उन वस्तुओं को दीन-दुखियों में न बांट देती। मैंने महसूस किया कि सती होने की कल्पना तो अलग रही, मैं साध्वी भी न रह सकी वरना जिन कीमती साड़ियों को सुहागन होते मैं न पहन सकी, विधवा होकर क्यों विमान कम्पनी से उन्हें प्राप्त कर मैं अपने परिवार वालों को उन्हें अपनी आलमारी में बन्द करने की इजाजत देती! पर रीत जो ठहरी, उसमें प्रीत का सा दम्भ थोड़े ही होता है! यदि वही त्याग और विसर्जन रीत निभाने में भी हो, तो प्रीत और रीत की अलग-अलग संज्ञा ही क्यों बने!

ख़ैर, खोखली होती हुई भी मैं विधवा स्त्री की रीत निभाती चली गई कि एक दिन मेरे इस दम्भ पर भी शैलेन्द्र के पिता जी आक्रमण कर बैठे। उन्होंने उसे भावुकता से उत्पन्न पागलपन बताया। मैं विमूढ़-सी हो उनकी बातें सुनती रही।

"तो क्या पति-पत्नी का लगाव भी धागे के समान कमजोर होता है कि एक झटके में ही वह टूट जाये?" शंका प्रकट की थी मैंने।

"पर पति जब जीवित हो, तब न! तुम पति का नहीं, अपितु उसकी मृत्यु

का मोह लिए बैठी हो।"

"तो पतिव्रत धर्म क्या हुआ? किसे कहते हैं पतिव्रता स्त्री?" उल्टे उन्हीं पर आक्रमण-सा कर बैठी थी मैं।

"पति के प्रति निष्ठा रखना। जानती हो, क्यों? इसलिए कि निष्ठा-हीन मन स्थिरता और विकास नहीं पा सकता। मन की स्थिरता के लिए ही संस्कार बने हैं, मर्यादाओं की सीमा निश्चित हुई हैं।"

मैं रो पड़ी थी। बोली, "मेरे मन को आप क्या इतना चंचल समझते हैं कि मुझसे मर्यादाओं की सीमा लाँघने का आपको भय है?"

"तुम्हारे मन की दृढ़ता को मैं समझता हूँ; पर मन के अतिरिक्त हृदय का भी हमारे अन्दर अस्तित्व है, जो बुद्धि और विवेक की अपेक्षा प्रकृति से अधिक संचालित होता है। तुम उसे स्थिर कर पाओगी, पर अंकुश रख कर ही, उसका दमन कर, स्वाभाविक रूप से नहीं। प्रकृति के विरुद्ध कोई भी काम किया जाय, उससे केवल अहं की पूर्ति होती है, स्वाभाविक विकास प्राप्त नहीं होता।"

मैं चुप थी पर फिर मैंने अकस्मात् प्रश्न किया, "मैं यह समझूँ कि पशुओं का विकास मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है क्योंकि उनका आचरण अधिक प्राकृतिक है?"

शैलेन्द्र के पिता जी बोले, "काश कि मनुष्य की इन्द्रियाँ भी पशुओं जैसी होतीं, तब तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर देने की मुझे आवश्यकता न होती। मनुष्य के पास यदि हृदय ही केवल होता तो फिर कोई समस्या नहीं थी। मन का विकास भी हो और मनुष्य प्रकृति से दूर न जाय, यही मेरी चर्चा का विषय है।"

मैं उनकी बातों में उलझ गई थी। उनके तर्क इतने अकाट्य होते कि वैज्ञानिक रूप से चिन्तन करने पर मैं अपने ऊपर उनके विचारों का महत् प्रभाव अनुभव करती।

पहले मैं रीत और प्रीत के द्वन्द्व से त्रस्त थी; पर बाद में मन और हृदय के बीच सामंजस्य लेकर चलने के औचित्य से।

पिता जी को सब जानकारी थी। केवल अनभिज्ञ थे तो शैलेन्द्र ही। शैलेन्द्र के पिता जी चारों ओर से हमारे परिवार के चिर-अर्जित संस्कारों और मान्यताओं के विरुद्ध मोर्चा ले बैठे थे। वह अपने विचारों से कभी मुझ पर आक्रमण करते, कभी पिता जी पर तो कभी माता जी पर। हमारे पास केवल भावनाएँ ही थीं, तर्क नहीं थे जो उस वाक्-युद्ध में अपनी रक्षा कर पाते। काफी समय तक यह अन्तःद्वन्द्व चलता रहा और जब मैंने महसूस किया कि मेरी भावुकता ही मेरे मानसिक दुख का कारण थी, तो वैधव्य की रीत निभाना छोड़, मैंने उनके साथ कश्मीर जाने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

स्पष्ट था कि मैं वास्तविकता को स्वीकार कर चुकी थी। मेरा दृष्टिकोण तब भावुकता से प्रभावित नहीं रहा। राघव वास्तव में जीवित नहीं थे और जीवन-पर्यन्त उनकी याद में आँसू बहाते रहने में मुझे कोई तुक नहीं दिखाई दिया।

आज मैं महसूस करती हूँ कि कितना ही व्यावहारिक दृष्टिकोण लेकर मनुष्य चले, भावनाएँ मिटती नहीं, अमर रहती हैं। वरना क्यों मृत्यु की सेज पर पड़े विश्व-विजेताओं को भी अपनी भूलें अखर गई हैं।

जब मैं कोर्ट में शादी कराने गई तो मैंने वही जरीदार साड़ी पहन रखी थी जिसका जोड़ा राघव के सूटकेस में मिला था। राघव के चित्र को मैंने फ्रेम में जड़वा कर अपने ड्राइंग-रूम में रख दिया था। मैं आदर की दृष्टि से उस फोटो को देखती, पर आँसू नहीं बहाती।

फिर भी न जाने क्यों, किसी दूसरे द्वारा राघव की चर्चा होने पर मैं एक टीस-सी महसूस करती। मैं सोचती थी कि वह अध्याय किसी जिल्द में ही बन्द रहे। जो बीत गया था, उसकी चर्चा न हो।

मैं ऐसा शायद इसलिए चाहती थी क्योंकि सोचती थी कि मैं सबकी थी, मेरी चर्चा वे लोग कर सकते थे, पर राघव केवल मेरे थे, उनकी चर्चा का अधिकार मेरे अतिरिक्त किसी को नहीं था। मैंने शैलेन्द्र का वरण किया था, पर राघव की कीमत चुका कर नहीं, उन्हें मृतक समझकर ही।

मैंने राघव को खूंटी नहीं, अपितु टूटी हुई तलवार समझते हुए ही नई तलवार को अपने म्यान में जगह दी थी। मैं एक पतिव्रता नारी न सही पर पतिता भी नहीं थी। किसी को इस वास्तविकता से शायद इन्कार न रहा हो, ऐसा मेरा अनुमान है।

पुनर्विवाह मेरी दृष्टि में तब उतना हीन न दिखाई दिया जितना चारित्र्य-दौर्बल्य। शैलेन्द्र ने मेरी ओर कभी कुत्सित दृष्टि उठाई हो, इसका मुझे भान भी नहीं। राघव की मृत्यु के पश्चात् उनका स्नेह केवल और अधिक करुण हो उठा था। यह स्वाभाविक भी था। मैं दुख के अगाध सागर में डूबी हुई थी। उस स्थिति में किसी की आन्तरिक सहानुभूति पतवार बन कर मुझे सहारा देती रहे, ऐसी आशा करना दुर्बलता नहीं थी। पर मैंने कभी उन्हें निकट नहीं आने दिया। अन्दर-ही-अन्दर फिर भी मैं अपने से भयभीत हो उठती क्योंकि तब मैं विधवा जो थी, प्रीत के अधिकार से वंचित। मेरे व्यवहार से शैलेन्द्र को ठेस पहुँचती थी, यह मुझे पता था, पर मुझे वैधव्य की रीत जो निभानी थी। रीत का दम्भ आत्मीयता की उपेक्षा कर मेरे स्वभाव में उद्दण्डता भरता गया। अस्तु जब शैलेन्द्र के पिताजी ने दमन से पोषित वृत्तियों की विवेचना की, तो मैं अन्दर ही अन्दर मान गई कि मुझे अपने चरित्र पर से विश्वास उठ गया था वरना क्यों शैलेन्द्र की आत्मीयता से भयभीत हो, मैं उनसे दूर रहने लगी थी? क्यों उनको ठेस पहुँचने पर उनके दुख की तुरन्त मुझे अनुभूति होती थी? मैं अपने दुख को शैलेन्द्र के पिता जी के समक्ष तो व्यक्त करती, पर शैलेन्द्र के समक्ष संकोच कर जाती। इसीलिये न कि चारित्र्य-दौर्बल्य जो अंकुरित हो उठा था मेरे अन्दर।

शैलेन्द्र के पिता जी ने मेरे पिता जी से मेरे पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया तो उस समय पिता जी को प्रस्ताव न केवल अरुचिकर लगा बल्कि अद्भुत और असम्भव भी। पर बाद में उन्होंने जब स्वयं शैलेन्द्र का नाम तजवीज किया तो पिता जी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। शैलेन्‍[illegible] जी के विचारों का मुझ पर पूरा प्रभाव पड़ चुका था। मैंने

विवाह श्रेयस्कर और उचित है तो शैलेन्द्र ही केवल वह पात्र था जिसका वरण करती।

मेरा निर्णय गलत न निकला और निकलता भी कैसे, क्योंकि ऐसी क्या चीज शैलेन्द्र के चरित्र-स्वभाव में थी जो पूर्व ही मैं न जानती थी। केवल उनकी महानता देखनी शेष थी। पुनर्विवाह के पश्चात् उस महानता का भी परिचय मिल गया। वह इतने उदार और सरल प्रकृति के निकले कि उन्होंने कभी मुझे यह महसूस न होने दिया कि इरा राघव की कन्या थी, उनकी नहीं। मैं खण्डित कौमार्य को लेकर उन्हें प्राप्त हुई थी, पर अन्त तक उन्होंने मुझे वही मान दिया जो कंवारी कन्याओं को स्त्रीत्व प्राप्त करने पर दिया जाता है। मुझे तब महसूस हुआ कि पुनर्विवाह कर मैंने वैधव्य का पाप धो डाला। कह नहीं सकती कि मेरा यह अभिमान ठीक था या गलत, क्योंकि सुमन के उत्पन्न होने तक ऐसा कोई अवसर नहीं आया कि इस अभिमान को मैं किसी कसौटी पर रखती। मेरा घमण्ड विलास में पोषण पाता रहा, शैलेन्द्र की मुहब्बत और प्रेम से सिंचित होता रहा।

सखा के रूप में शैलेन्द्र के साथ मैं कई बार शिमला हो आई थी, प्रेमिका के रूप में मैं कश्मीर भी गई और पत्नी बन कर उस वर्ष, जिस वर्ष सुमन उत्पन्न हुआ, मैं नैनीताल भी हो आई। सुमन को गोद में लेकर आया हमारे साथ रहती। इरा शैलेन्द्र के साथ इतना घुल-मिल गई थी कि उन्हीं की गोद उसे पसन्द थी। मुझे खाली हाथ घूमने में फिर किस बात का कष्ट होता! हम मीलों तक पैदल पहाड़ियों की चोटियों पर चढ़ जाते। आया तो शायद कुढ़ती होगी पर शैलेन्द्र पसीने में तरबतर होकर भी तरोताजा दीखते थे।

मुझे याद है कि कश्मीर में एक शाम जब हम झील में नौका-विहार कर रहे थे, शैलेन्द्र अति भावुक हो उठे थे। घण्टे आध घण्टे के बाद जब हम बाग में टहलने लगे थे, तब मैंने एक फूल तोड़कर उनके हाथों अपने जूड़े में लगवा कर उस भावुकता का जैसे मूल्य चुकाया था। नैनीताल में

भी ठीक एक ऐसी ही साँझ को, जब झील में पूनो के चाँद का प्रतिबिम्ब झिलमिला रहा था, दो डोंगियों को पहले से ही रिजर्व कर, आया और दो बच्चों सहित हम नौका-विहार करने निकल पड़े थे।

शैलेन्द्र बोले, "जब भी चाँद को यों पहाड़ियों के झुरमुट से झाँकता हुआ देखता हूँ तो उस मधुर कम्पन की तृष्णा से व्याकुल हो जाता हूँ, जो तुम्हारे जुड़े में फूल गूँथते समय अनुभव की थी मैंने।"

"कोई प्रणय-अभिनय कर लीजिये न यहाँ। कई तितलियाँ मिल जायेंगी।"

"नहीं बेला, रस भावना में है, वस्तु में नहीं। तुम यदि फिर पराई बनकर दुबारा मेरे जीवन में प्रवेश करो, तो वही कम्पन, वही तड़प मैं प्राप्त कर पाऊँ।"

"तो आप तरसते हैं, उस तड़प के लिए?"

"उससे मेरी आनन्द की अनुभूति का सम्बन्ध जो है!"

मैं खिलखिला कर हँस पड़ी—उस नग्न विरोधाभास पर। पूर्णता प्राप्त कर शैलेन्द्र अपूर्णता का आह्वान कर रहे थे—शिखर पर चढ़कर जैसे फिर नीचे उतरने का मोह ले बैठे थे। मैंने थोड़ा और चिन्तन किया तो अकस्मात् मुझे एक झटका-सा लगा। यह शब्द क्या शैलेन्द्र के मुख से निकले थे, जो जीवन के प्रति पूर्ण व्यावहारिक दृष्टिकोण लेकर चलते थे। जीवन को जीवन और मृत्यु को मृत्यु समझते थे। वस्तु में रस का अस्तित्व कबूल करते थे और कम्पन को निर्बलता एवं तड़प को अभाव की संज्ञा देते थे। आज उन्हें क्या हो गया था कि भावना को वस्तु से अधिक महत्व दे बैठे, निर्बलता और अभाव में आकर्षण महसूस करने लगे। यह तो राघव के चरित्र की विशेषताएँ थीं। तो क्या जिस भावुकता को शैलेन्द्र के पिता जी पागलपन कह कर ठुकरा चुके थे, वह पागलपन न होकर यथार्थता थी? अगर नहीं तो क्यों शैलेन्द्र-जैसे यथार्थ दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति को वह भावुकता आज ग्रसित कर गई? मैं कुछ व्याकुल सी हो उठी।

प्रकृति उसी भांति सजधज कर अपना रूप और यौवन लिये जादू करने चली थी, जिस भांति कश्मीर में हमने उसे पाया था, पर हमें लगा कि उस सांझ को उसका सौन्दर्य निष्प्राण ही रहा। रस वस्तु की अपेक्षा भावना में जो तिरोहित हो चुका था।

और दिनों की अपेक्षा उस रात हम जल्दी ही अपने बँगले पर लौट आये। शैलेन्द्र प्रातः छः साढ़े छः बजे नित्य भ्रमण के लिए निकल जाते थे। कभी 'टीफन टॉप', कभी 'लँण्डज् यण्डज्' या फिर कभी 'स्नो व्यू'-की ओर चले जाते। साढ़े आठ-नौ बजे तक वह वापस बँगले पर पहुँच पाते। तब तक मैं स्नानादि से निवृत्त हो, चाय तैयार रखती। डबल रोटी के पीस, मक्खन और आमलेट खाकर हम नाश्ता करते। हमारे बँगले से एक डेढ़ फर्लांग की उतराई पर म्युनिसिपल मार्केट था जहाँ ताजे-ताजे अण्डे, डबल रोटी, मक्खन और सब्जियाँ प्राप्त हो जाया करती थीं। शैलेन्द्र घूमने निकल जाते तो मैं आया के संग या कभी अकेली ही इन चीजों को खरीदने मार्केट आ जाया करती थी। बँगले की रक्षा चौकीदार करता जो बारह महीनों के लिए बँगले के मालिक ने लॉनों, पौधों और बँगले की देखभाल के लिए नियुक्त कर रखा था।

एक दिन मैं सब्जी और अण्डे लेकर लौटी तो शैलेन्द्र चाय की मेज पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

उत्साह से बोले, "बेला, इरा के लिए आज अध्यापक की व्यवस्था कर आया हूँ।"

"कहाँ?"

"बस, बँगले से बाहर निकलते ही एक सज्जन मिल गये। टैगोर या अरविन्द की शक्ल के ही हैं। वही लम्बे-लम्बे बाल, घनी मूंछें और दाढ़ी, आंखों में तेज और मिजाज में शालीनता। उम्र के ही जरा कच्चे लगते हैं पर क्या हुआ, महर्षियों के गुणों से युक्त हैं। हिन्दी में बातें कीं, तो औपन्यासिक हिन्दी बोलने लगे। अंग्रेजी धाराप्रवाह छूट रही थी।"

मैं हँस पड़ी। बच्ची को अभी 'किंगरीडर' तक का ज्ञान नहीं था और

ये ढूंढ लाये थे टैगोर-अरविन्द के समान विद्वान !

मैं बोली, "वह इरा को पढ़ायेंगे या मुझे ?"

"तुम्हें भी शौक हो तो पढ़ो। पत्रकार तो बन ही चुकी हो, दार्शनिक भी बन जाओगी। सच कह रहा हूँ, सूरत से दर्शन के विद्वान् लगते हैं।"

मैं हँस पड़ी, बोली, "क्या लेंगे ?"

"बस, मजा तो यही है कि हरा लगे न फिटकरी और रंग उज्ज्वल।

वह ऐसे मास्टर जी नहीं हैं बेला, जो तुम्हारी दिल्ली में—अर्थ की खोज में अनर्थ कर रहे हैं। ज्ञान वितरण करना कइयों के लिए एक हॉबी है, ठीक वैसे ही, जैसे समान रुचि और स्वभाव के व्यक्ति के साथ हम वाद-विवाद और सामयिक चर्चाओं को अपनी हॉबी बना लेते हैं। महान् पुरुषों की वैसे भी बच्चों में विशेष दिलचस्पी पाई जाती है।"

मैं फिर हँस पड़ी। बोली, "आप मजाक कर रहे हैं या सच बोल रहे हैं ?"

शैलेन्द्र भी हँस रहे थे। चुप होकर बोले, "बात तो मजाक की ही मालूम पड़ती है, पर है सच ही। मैंने उन्हें परसों से ही बुलाया है।"

"देखेंगे !" मैं बोली।

"लेकिन देख कर लट्टू न हो जाना, हम अभी राहों में खड़े हैं।"

मैं हँसी से ओतप्रोत हो उठी।

"उस जोगी पर ?" खिलखिलाती हुई बोली मैं।

"जादू-टोना जोगियों को ही आता है।" शैलेन्द्र भी जी भर कर मजाक करने पर आ गये थे।

"वह भी देख लेंगे।"

अगली सुबह माया के साथ मैं अण्डे और डबलरोटी लेने म्युनिसिपल मार्केट गई। सामान खरीद कर मैंने माया के हाथ में टोकरी दी और मुड़ी ही थी कि कुछ अन्तर पर अकस्मात् दो चमकती हुई आँखों को अपनी ओर घूरते हुए पाया। मुझे लगा कि वे चमकती हुई आँखें मुझे बरबस अपनी ओर खींच रही थीं। मैं काँप उठी। कहाँ देखी थीं ये आँखें मैंने ?

सिर से लेकर पैर तक मैंने उस व्यक्ति को देखा और अनायास ही धीमा-सा स्वर मेरे मुंह से निकल गया—'राघव'। मेरी आंखों के सामने अन्धकार छाने लगा। मूर्च्छित होकर मैं कब आया पर लुढ़क पड़ी, मुझे ज्ञान नहीं। जब मेरी चेतना लौटी तो एक अच्छी-खासी भीड़ मेरे चारों ओर जमा थी। शैलेन्द्र मुझे सहारा देते हुए मेरे मुंह पर पानी के छींटे मार रहे थे। न जाने कितनी देर बाद मेरी चेतना लौटी। भीड़ छंटने लगी थी। मेरी आंखें तुरन्त उस व्यक्ति को ढूंढ़ने लगी थीं पर कहीं भी उस भीड़ में उसका पता नहीं था। वह अन्तर्धान हो गया था, ठीक वैसे ही जैसे एक चमक दिखा कर बिजली बादलों में लोप हो जाती है।

शैलेन्द्र मुझे कण्डी पर बिठा कर बंगले पर ले आये तो मैंने इरा को जोर से छाती से कस लिया। पागलों की भांति चुम्बनों की बौछार कर मैंने उसके मासूम गाल लाल कर दिये थे। वह शायद रो भी उठी थी पर मुझे कुछ नहीं मालूम कि मैं क्या कर रही थी। सारा वृत्तान्त अगली सुबह जब आया ने मुझे सुनाया तब पुनः अपनी दीर्घ मूर्च्छा से मैं जागी।

शैलेन्द्र चिन्तित थे कि अचानक मेरी तबीयत को क्या हो गया था। यों कभी पहले मैं चेतनाहीन नहीं हुई थी—तब भी, जब राघव की मृत्यु का समाचार मुझे मिला।

वह बोले, "अब कैसी तबीयत है?"

"ठीक हूं। इरा कहां है?"

"सो रही है। कल तुम्हें क्या हो गया था, जो तुम्हारा सारा मातृत्व उबल कर उस पर बिखर पड़ा?"

मैं क्या बताती शैलेन्द्र को? कौन विश्वास करता कि जो शक्ल कल मैंने देखी थी, वह साक्षात् राघव की थी। मुझे स्वयं कल की घटना एक स्वप्न-सी लग रही थी। कौन उस स्वप्न को यथार्थ कबूल करता? शैलेन्द्र प्रगतिशील आधुनिक युवक थे, कैसे वह भूतप्रेत का अस्तित्व कबूल करते? उस व्यक्ति का रंग तो कतई राघव-जैसा नहीं था पर फिर भी वह मुझे राघव ही लगा। पुरुष को पहचानने में ईश्वर शायद भूल कर दे, पर पत्नी

कैसे भूल कर सकती है ? उन चमकीली आँखों में मुझे राघव की आत्मा झाँकती हुई दिखाई पड़ी थी।

"इरा को मेरे पास लिटा दीजिए।"

"पर क्यों ? वह आराम से सो रही है इस समय।"

क्या उत्तर देती मैं शैलेन्द्र के प्रश्न का ? मैं कैसे उन्हें बताती कि इरा राघव की निशानी थी, निशान देने वाले को अन्तर्धान पाकर उसकी निशानी पर ही तो न्योछावर होती। लोग निशानियों को अँगूठी के रूप में उँगलियों में पहने रहते हैं, रूमाल को इत्र से भिगोकर सूँघते रहते हैं। इरा तो जीव थी—निशानी देने वाले की आत्मा का प्रतिबिम्ब। क्यों न उसे छाती से चिपकाती ! पर कुछ भी स्पष्टीकरण देने को मैं लाचार थी।

मैं उठकर स्वयं इरा के पास जाकर लेट गई। उस मासूम मुख को चूमती जाती। उसके बालों को सहलाती और फिर वक्ष से चिपका कर आँखें मूँद स्वयं भी सो जाती।

इरा तब मुझे पहली बार अनाथ बालिका-सी लगी जिसे मानो मैं भूला चुकी थी। मानो केवल भाग्य की कृपा से ही वह ऐश्वर्य में पलती गई—निराश्रिता की भाँति ममत्व से जैसे वह वंचित ही रही। मैं भूल ही गई कि किस पागलपन के दौर में मैं उन अनोखी-असंगत कल्पनाओं को मन में ले बैठी।

शैलेन्द्र परेशान थे। उनकी परेशानी स्वाभाविक और उचित थी। वह इरा को सुमन से अधिक चाहते थे। चार साल तक बिल्कुल बेखबर रह कर आज इरा पर मैं अकस्मात् अपना एकमात्र अधिकार ले बैठी थी, क्या इससे शैलेन्द्र को ठेस न पहुँचती ? शैलेन्द्र को कोई सूत्र न मिला कि यहाँ से मेरे अन्दर यह पार्थक्य की भावना आकर इरा को उनसे छुड़ा ले गई। वह क्षुब्ध और मौन थे। शायद मानव-प्रकृति में निहित फितूर से परिचित थे वह।

पाँच-सात दिन बीत गये। मेरा वह पागलपन कम जरूर हुआ पर गया नहीं। मैं शैलेन्द्र के साथ फिर घूमने-फिरने निकलने लगी थी। दिन-

चर्या पूर्ववत् चलने लगी पर अपने स्वभाव में वह मस्ती और अल्हड़पन, चांचल्य और शोखी न ला सकी, जो शैलेन्द्र को वरण करने के पश्चात् मेरी प्रकृति के अभिन्न अंग बन चुके थे। शैलेन्द्र को इस परिवर्तन का एहसास था पर उन्होंने उसे तूल नहीं दिया। मेरी मानसिक अस्वस्थता को साधारण समझ कर वह दिनचर्या को और अधिक रोचक बनाने की फिक्र में थे, ताकि प्रसन्न-चित्त रह कर मैं उस मानसिक अस्वस्थता का फिर शिकार न बनूं।

हम एक क्लब के सदस्य बन गये। शाम को एक-आध घण्टा बिलियर्ड खेलते, युगल नृत्य देखते और फिर माल रोड और फ्लैट का चक्कर लगा कर घर आ जाते।

शैलेन्द्र बोले, "वह सज्जन आये थे पर तुम्हें अस्वस्थ जान कर चले गये।"

मैं बोली, "आपने जाने क्यों दिया? तबीयत मेरी खराब थी, इरा की तो नहीं।"

"पर इरा को तुम अपने से अलग करतीं, तब न!"

"ओह! तो क्या अब न आयेंगे?"

"फिर आने का वायदा तो कर गये हैं वैसे।"

और एक दिन जब प्रातः शैलेन्द्र टीफन टीप की ओर वायु-सेवन करने गये हुए थे तो आया बाहर से कमरे में दाखिल होती हुई बोली, "इरा को पढ़ाने मास्टर जी आये हैं।"

मैं डाइनिंग-रूम में डबल रोटी पर मक्खन लगा रही थी।

"बिठाओ तुम उन्हें बैठक में, मैं अभी आई।" बोली मैं।

मैं उन महापुरुष को देखने को उत्सुक थी जिनकी शैलेन्द्र इतनी प्रशंसा कर चुके थे। साड़ी का पल्ला सिर पर रखती हुई बैठक में चली आई।

पर यह क्या! फिर वही सूरत, वही चमकती हुई आंखें और उनमें से झांकती हुई राघव की आत्मा! हे ईश्वर! यह क्या माया थी? यदि वास्तव में राघव का भूत होता तो क्यों शैलेन्द्र से उनकी इतनी मुलाकातें

होती, क्यों शैलेन्द्र उनसे इतने प्रभावित होते ! वह भूत नहीं, जीवित मूर्ति थी, वेशभूषा और रंग में राघव से भिन्न, पर आकृति और रूप में साक्षात् राघव। मैं उल्टे पाँव अन्दर कमरे में भाग गई और बिस्तर पर जाकर चेतनाहीन हो गई।

जब थोड़ी देर में मेरी मूर्च्छा टूटी तो वह जा चुके थे और उनके स्थान पर मैंने बैठक के कमरे से डाक्टर के साथ शैलेन्द्र को बातें करते हुए सुना।

"हिस्टीरिया का प्रभाव तो नहीं मालूम पड़ता। उसके कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। यह तो केवल मानसिक दुर्बलता है।" डाक्टर मुझे देखने के बाद अपनी राय दे रहा था।

"इन्हें बिल्कुल आराम करने दीजिए। अधिक खुशी या अधिक दुख ही सम्भवतः इनकी मूर्च्छा का कारण है।"

डाक्टर के जाने के बाद शैलेन्द्र मेरे पास आये और चुपचाप खड़े हो गये। मैं तब रो रही थी। मैं सोचती कि क्या शैलेन्द्र को नहीं था मालूम कि वह व्यक्ति जो निशुल्क इरा को पढ़ाने उनके निमन्त्रण पर हमारे बँगले में आने लगे थे, वास्तव में कौन थे। क्या शैलेन्द्र को उनमें राघव की शक्ल नहीं दिखाई दी ? मैं सोचने लगी कि शैलेन्द्र से राघव का परिचय भी विशेष नहीं था। केवल एक ही शाम एक आध घण्टे के लिए ही तो दरियागंज के मकान पर उनका मिलन हुआ था। सम्भवतः पहचान न सके हों, पर मुझे धोखा नहीं हो सकता था। मुझे विश्वास हो चला था कि वह राघव ही थे, इरा के पिता जी और मेरा पहला-पहला प्रेम।

मैं चुपचाप आँख मूँद कर सोने का सा उपक्रम करती रही। माया बीच-बीच में मुझे दूध और फल आदि दे जाती। शैलेन्द्र भी मुझे देख मौन हो चले जाते। करवटें लेती हुई सारे दिन उस रोज मैं बिस्तर पर लेटी रही। राघव के विषय में सोचती चली जाती और बीच-बीच में फूट-फूट कर रो पड़ती। मेरे उन आँसुओं को किसी ने नहीं देखा और न मैं ही किसी को दिखाना चाहती थी। यह कौन-सा प्रायश्चित्त मुझे अपने

पापों का करना पड़ रहा था कि न मैं जी पा रही थी और न मर ही सकी। यह कैसी विडम्बना रही कि पति के होते हुए भी मेरी मांग का सिन्दूर पोंछ दिया गया और जब उसमें फिर सिन्दूर भरा गया तो उस सिन्दूर में आज मुझे सुहाग की लालिमा नहीं, अपितु वेश्या जैसा शृङ्गार दिखाई दे रहा था। मेरा इससे अधिक और क्या दुर्भाग्य हो सकता था कि मन में आदर्श नारी का संकल्प रखते हुए भी, मैं एक साधारण गृहिणी का सौभाग्य न पा सकी। मैंने दो प्रेम की चर्चा तो सुन रखी थी, पर कभी इस रूप में नहीं, जिस रूप में अपने भाग्य में लिखा हुआ पाया। राघव और शैलेन्द्र दोनों मेरे पति थे, एक प्रेमी और दूसरा पति नहीं वरन् दोनों पति रूप में एक साथ मेरे समक्ष थे। मेरा चरित्र दोनों की दृष्टि में किसी भी पतिव्रता नारी से कम नहीं था। केवल मैं ही स्वयं समझ नहीं पा रही थी कि मैं सुहागन थी अथवा सुहाग का खिलौना मात्र, पतिव्रता स्त्री थी अथवा उसका ढोंग करने वाली स्त्री!

आया और शैलेन्द्र दोनों में से कोई भी मेरी व्यथा का कारण न जान पाये। दूसरे दिन प्रातः फिर उसी समय ड्राइंग-रूम में शैलेन्द्र को मैंने इरा के मास्टर जी से बातें करते हुए सुना।

"फिर कल तबीयत खराब हो गई।" शैलेन्द्र कह रहे थे।

"हाँ, वह तो मेरे ही सामने की बात है, अचानक यहाँ से उठकर चली गई थीं वह। बच्ची कहाँ है?"

इरा को मैंने अपने ही पास सुला रखा था। उसे उठाती हुई बोली, "जाओ, पापा के पास, वह तुम्हें बुला रहे हैं।"

इरा उठने में आलस्य कर रही थी। उसे जबर्दस्ती उठा कर मैंने खड़ा कर दिया। बोली, "तुम्हारे मास्टर जी आये हैं, बेबी, जाओ उनके पास जाओ।"

इरा को बाहर बैठक वाले कमरे में भेज कर मैं भी कौतुहलवश द्वार के पास आकर खड़ी हो गई ताकि परदे के पीछे से उनकी बातें स्पष्ट सुन सकूं और उन मास्टर जी को एक बार फिर देख लूं।

उन मास्टर जी ने इस समय अपनी आँखों में गॉगल लगा रखे थे। इरा ने बैठक के कमरे में जैसे ही प्रवेश किया उन्होंने गॉगल उतार लिए और उनकी दृष्टि इरा पर केन्द्रित हो उठी।

शैलेन्द्र बोले, "इसका नाम इरा है।"

पर मैं देख रही थी कि मास्टर जी को सम्भवतः शैलेन्द्र के शब्द सुनाई नहीं दिये। वह एकटक इरा को देखते रहे, मानो इरा की आँखों में झाँक कर वह अपना अतीत ढूँढ रहे थे। उनकी आँखें भी तरल हो उठी थीं पर तभी सँभल कर फिर उन्होंने अपने गॉगल पहन लिए और कुर्सी से उठ इरा को छाती से लगा लिया। शैलेन्द्र इरा के प्रति उन मास्टर जी को प्रभावित देख स्वयं भी गद्‌गद् हो उठे, पर इरा उनकी दाढ़ी-मूँछों से डर कर अपने को छुड़ाने का प्रयास करने लगी थी।

"यह तो तुम्हारे मास्टर जी हैं बेबी।" शैलेन्द्र प्यार से इरा को अपनी गोदी में लेते हुए बोले।

"बच्ची है, बगैर जान-पहचान के कैसे एकदम खुलेगी?" उन मास्टर जी का स्वर बिल्कुल राघव का-सा था। उन्होंने अपनी जेब से एक बिस्कुट का पैकेट निकाला और इरा के हाथों में देते हुए बोले, "हमारी गोद में बैठोगी तो हम नित्य तुम्हारे लिए टॉफी-बिस्कुट लायेंगे।"

',तुमछे हमें डल लगता है।"

शैलेन्द्र खिलखिला कर हँस पड़े थे, पर उन मास्टर जी की होंठों में केवल एक पीड़ा-भरी मुस्कान ही दिखाई दी।

"तुम दाल्ही-मूँछ कटा दो ना।" इरा तुतलाती हुई अपने मास्टर जी को सम्बोधित कर बोली।

सुन कर वह कुछ व्यथित-से दिखाई दिये और शैलेन्द्र कुछ लज्जित से। "ऐसा नहीं कहते, बेबी।" उन्होंने प्यार से इरा को समझाया।

"आज आप घूमने नहीं गये?" मास्टर जी अब शैलेन्द्र से बातें करने लग गये थे।

"इसकी माँ की तबीयत जो खराब है।"

"अब कैसी हैं ?" दबी हुई उत्सुकता-सी प्रकट हुई उनके स्वरों में ।

"लेटी हुई हैं । कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि क्यों ये दौरे पड़ने
... ।"

"कब से उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है ?"

"बस, यहीं नैनीताल आकर ही । एक दिन मार्केट गई थीं । वहीं
चक्कर आ गया ।"

उन निर्मोही मास्टर जी ने आँखों पर गॉगल लगा रखे थे, अतः
उनकी आँखों में मन के क्या भाव तैर रहे थे, पता करना मुश्किल ही था ।
होंठों में वही दबी हुई उत्सुकता-भरी मुस्कान थी ।

"मैं यह पूछना तो भूल ही गया कि आप रह कहाँ रहे हैं ?" शैलेन्द्र
उन मास्टर जी से बोले ।

वह हँस पड़े थे । व्यंग भरी मुस्कान थी वह, ठीक राघव ही जैसी ।

"अपने लिए कौन-सा महल चाहिए ! धर्मशाला का एक कमरा ही
पर्याप्त है ।"

शैलेन्द्र कुछ प्रभावित-से जान पड़े । संकुचित स्वर में बोले, "इस बँगले
में स्थान तो बहुत है । कह नहीं सकता कि आपको यहाँ रहना मंजूर होगा
या नहीं ।"

मास्टर जी फिर हँस पड़े थे । उनकी हँसी इस समय कृत्रिम-सी
जान पड़ी मुझे ।

हँसते हुए ही बोले, "फिर आप कहेंगे कि अन्न-वस्त्र भी मैं आप ही
से लूं, ताकि बच्ची को पढ़ाने की फीस परोक्ष में आपसे प्राप्त हो जाये
है न यही बात ?"

शैलेन्द्र लज्जित-से दिखाई दिए । बोले, "इसीलिए संकोच कर र
था मुझे कि मेरा प्रस्ताव कहीं आपके स्वाभिमान को स्पर्श न कर दे, वर
मेरा प्रस्ताव अनुचित नहीं है । आपके संग का लालच जो हो
है ।"

गम्भीर से दिखाई दिये, मानो कुछ सोचने लगे

शैलेन्द्र बोले, "मेरे निमन्त्रण में केवल श्रद्धा है, स्वार्थ और विनिमय की भावना नहीं। बेला की अस्वस्थता के कारण कुछ एकाकीपन-सा महसूस होता है। आपका संग प्राप्त हो जाने पर यह एकाकीपन खलेगा नहीं।"

अब मास्टर जी रुचि से शैलेन्द्र की बातें सुन रहे थे। थोड़े मौन के बाद अनजान से बोले, "बेला यानी कि आपकी पत्नी ?"

"जी।"

मैं उन मास्टर जी के इस प्रश्न पर अन्दर से रो-सी उठी। निष्ठुर कुरेदन थी यह।

"परन्तु उनकी परिचर्या में कहीं व्यवधान न आ जाय।"

यह भी एक व्यंग था जिसे शायद शैलेन्द्र समझ न सके।

"आप यहाँ सैर-तफरीह करने आये हैं, आपका एकान्त भंग न हो।"

उन्होंने दूसरा व्यंग, जो अधिक कसीला और पैना था किया, तो शैलेन्द्र क्षोभ में बोले, "एकान्त के लिए मैंने कभी अवसर और स्थान की खोज नहीं की। इतनी उच्छृंखलता कभी जाहिर नहीं होने दी कि कोई पास आने में हमसे संकोच करे।"

मास्टर जी अब हँसने लगे थे। बोले, "मैंने आपको शायद ठेस पहुँचाई है ?"

"नहीं, आपका सोचना उचित ही था।"

"तो पहले यहाँ अपना कम्बल और दरी ले आऊँ, फिर बेबी को शिष्या बनाऊँ, यही न ?"

दोनों हँसते हुए कुर्सियों से उठ गये तो मैं किवाड़ की ओट से हटकर पुनः अपने बिस्तर पर आकर लेट गई।

उसी दिन संध्या काल के समय वह बँगले में आ गये। शैलेन्द्र अलग कमरे में उनको ले गये थे। मैं किवाड़ की ओट से सब देख रही थी। सामान ही क्या था। एक ट्रंक, कम्बल, दरी और कुछ उटर-पुटर सा। मैं विह्वल हो उठी। यदि राघव की वायुयान-दुर्घटना में मृत्यु पो

होती और मेरी दूसरी शादी न होती तो शैलेन्द्र के स्थान पर आज भी राघव होते और शैलेन्द्र के अतिथि के रूप में आने पर तब शायद मैं पहले उन्हें किवाड़ों की ओट में से झांक कर देख लेती, जैसे मैं उन मास्टर जी को सुबह देख रही थी। मुझे अब तनिक भी सन्देह नहीं रह गया था कि वह मास्टर जी राघव के अतिरिक्त कोई और नहीं थे, पर भाग्य की विडम्बना कि शैलेन्द्र की अपेक्षा आज उन्हें ही मैं किवाड़ों की ओट से देख रही थी। अग्नि के समक्ष पति स्वीकार कर, नित्य उनका झूठन खा कर और उनके प्रेम को गर्भ में पोषण देकर भी मैं उनसे आँखें चार करने की आज शक्ति खो बैठी थी। जिस पेड़ के बीज से अंकुर उत्पन्न हो, बाद में उसी पेड़ की छांह पाकर यदि डर से सिहर उठे, तो यह कितने दुर्भाग्य की बात है। मैं रो पड़ी। यह कैसा संयोग आ पड़ा था कि दो तटों के बीच मेरे जीवन की वैतरणी प्रवाह न पाकर दुर्गन्ध से भर उठी। कल्पना करना दुसाध्य-सा हो गया था कि उस दुर्गन्ध से वातावरण कितना विषाक्त और भयानक हो उठे।

अगले दिन सुबह शैलेन्द्र और मास्टर जी, यानी राघव, प्रातः-भ्रमण के लिए चल दिये, तो मैं तत्काल उनके कमरे में दौड़ी चली आई। सन्दूक खुला पड़ा था। दरी के ऊपर बिना तह किया कम्बल पड़ा था और कमरे में सिगरेट के टुकड़े बिखरे पड़े थे। सन्दूक खोल कर देखा तो उसमें कुल सात रुपये और ग्यारह आने मिले। सोचने लगी कि कैसे वह अपना निर्वाह करते होंगे। साधु होते हुए भी रोटी, कपड़ा और सिगरेट का खर्च तो उनका बना हुआ ही था। कब तक वह सात रुपये ग्यारह आने चलते। मैंने सन्दूक की पूरी छानबीन कर डाली। एक टूटी हुई कंघी, घिसी हुई सनलाइट साबुन की टिकिया और एक छोटा-सा शीशा निकल आया जो उनके कत्थई रंग के चोले के बीच लिपटा हुआ था। सबसे नीचे कुछ कागज थे। उन्हें देख मैं सिहर उठी। खोल कर मैंने पहला पृष्ठ खोला ही था कि मुझे चक्कर-सा आने लगा। अपनी जीवनी लिख रखी थी उन्होंने। मैंने अपने को संभाला और पढ़ने लगी कागजों को, जिनमें उनकी

जीवनी बन्द थी।

एक-दो पृष्ठ पढ़कर ही मेरा अनुमान पुष्ट हो गया। यह राघव की ही जीवनी थी। पहले दस-पन्द्रह पृष्ठ ही पढ़ पाई थी कि मुझे लॉन में बातें करने का शब्द सुनाई दिया। हड़बड़ा कर उठ मैं छूटे हुए तीर की भाँति कमरे से निकल बाहर आ गई।

शैलेन्द्र और वह घूम कर आ गये थे और बैठक में बैठे हुए थे। अन्दर अपने कमरे में केवल बैठक से होकर ही जा सकती थी। मैं मुख को आँचल में बन्द कर अन्दर जाने लगी तो शैलेन्द्र ने टोक दिया, "इनसे नहीं मिलोगी, बेला? इरा के गुरु हैं यह।"

पर मैं रुकी नहीं, और भी तेज गति से अन्दर भाग गई। सम्भवतः शैलेन्द्र क्षुब्ध हो गये हों, पर कैसे मैं उस समय उनके क्षोभ का ख्याल करती। मैं तो काँप रही थी।

हृदय की धड़कन पर काबू पाने की चेष्टा करती हुई मैं बिस्तर पर बैठी हुई सोच ही रही थी कि शैलेन्द्र अन्दर आ गये और बोले, "यह कैसा व्यवहार था तुम्हारा कि मास्टर जी से बोलीं भी नहीं? क्या वह अपमानित नहीं हुए?"

मैं उत्तर न देकर केवल शैलेन्द्र के मुख की ओर देखने लग गई। सम्भवतः मेरी नजरों में उन्हें भयभीत हिरणी की आँखों की चमक-सी दिखाई दी क्योंकि तभी वह बोले, "इतनी डरी हुई-सी क्यों हो?"

मुझे निरुत्तर पाकर वह बोले, "मास्टर जी के लिए भी चाय लगाओ। इकट्ठे ही नाश्ता करेंगे।"

मैं कुछ न बोली। शैलेन्द्र को वहीं खड़ा अपनी ओर घूरते हुए देख, आया को आवाज देती हुई बोली, "चाय रख दो डाइनिंग के कमरे में और नाश्ता कराओ इन्हें।"

शैलेन्द्र मेरे उपेक्षा-भरे शब्दों से चौंक उठे।

"तो तुम हमारे साथ नाश्ता नहीं लोगी?"

"मेरी तबीयत ठीक नहीं। आप जाइये, वह अकेले बैठक में बैठे हैं।"

होती और मेरी दूसरी शादी न होती तो शैलेन्द्र के स्थान पर आज भी राघव होते और शैलेन्द्र के अतिथि के रूप में आने पर तब शायद मैं पहले उन्हें किवाड़ों की ओट में से झांक कर देख लेती, जैसे मैं उन मास्टर जी को सुबह देख रही थी। मुझे अब तनिक भी सन्देह नहीं रह गया था कि वह मास्टर जी राघव के अतिरिक्त कोई और नहीं थे, पर भाग्य की विडम्बना कि शैलेन्द्र की अपेक्षा आज उन्हें ही मैं किवाड़ों की ओट से देख रही थी। अग्नि के समक्ष पति स्वीकार कर, नित्य उनका झूठन खा कर और उनके प्रेम को गर्भ में पोषण देकर भी मैं उनसे आँखें चार करने की आज शक्ति खो बैठी थी। जिस पेड़ के बीज से अंकुर उत्पन्न हो, बाद में उसी पेड़ की छाँह पाकर यदि डर से सिहर उठे, तो यह कितने दुर्भाग्य की बात है। मैं रो पड़ी। यह कैसा संयोग आ पड़ा था कि दो तटों के बीच मेरे जीवन की वैतरणी प्रवाह न पाकर दुर्गन्ध से भर उठी। कल्पना करना दुसाध्य-सा हो गया था कि उस दुर्गन्ध से वातावरण कितना विषाक्त और भयानक हो उठे।

अगले दिन सुबह शैलेन्द्र और मास्टर जी, यानी राघव, प्रातः-भ्रमण के लिए चल दिये, तो मैं तत्काल उनके कमरे में दौड़ी चली आई। सन्दूक खुला पड़ा था। दरी के ऊपर बिना तह किया कम्बल पड़ा था और कमरे में सिगरेट के टुकड़े बिखरे पड़े थे। सन्दूक खोल कर देखा तो उसमें कुल सात रुपये और ग्यारह आने मिले। सोचने लगी कि कैसे वह अपना निर्वाह करते होंगे। साधु होते हुए भी रोटी, कपड़ा और सिगरेट का खर्च तो उनका बना हुआ ही था। कब तक वह सात रुपये ग्यारह आने चलते। मैंने सन्दूक की पूरी छानबीन कर डाली। एक टूटी हुई कंघी, घिसी हुई सनलाइट साबुन की टिकिया और एक छोटा-सा शीशा निकल आया जो उनके कत्थई रंग के चोले के बीच लिपटा हुआ था। सबसे नीचे कुछ कागज थे। उन्हें देख मैं सिहर उठी। खोल कर मैंने पहला पृष्ठ खोला ही था कि मुझे चक्कर-सा आने लगा। अपनी जीवनी लिख रखी थी उन्होंने। मैंने अपने को सँभाला और पढ़ने लगी कागजों को, जिनमें उनकी

जीवनी बन्द थी।

एक-दो पृष्ठ पढ़कर ही मेरा अनुमान पुष्ट हो गया। वह राघव की ही जीवनी थी। पहले दस-पन्द्रह पृष्ठ ही पढ़ पाई थी कि मुझे लॉन में बातें करने का शब्द सुनाई दिया। हड़बड़ा कर उठ मैं छूटे हुए तीर की भाँति कमरे से निकल बाहर आ गई।

शैलेन्द्र और वह घूम कर आ गये थे और बैठक में बैठे हुए थे। अन्दर अपने कमरे में केवल बैठक से होकर ही जा सकती थी। मैं मुख को आँचल में बन्द कर अन्दर जाने लगी तो शैलेन्द्र ने टोक दिया, "इनसे नहीं मिलोगी, बेला? इरा के गुरु हैं यह।"

पर मैं रुकी नहीं, और भी तेज गति से अन्दर भाग गई। सम्भवतः शैलेन्द्र क्षुब्ध हो गये हों, पर कैसे मैं उस समय उनके क्षोभ का ख्याल करती। मैं तो काँप रही थी।

हृदय की धड़कन पर काबू पाने की चेष्टा करती हुई मैं बिस्तर पर बैठी हुई सोच ही रही थी कि शैलेन्द्र अन्दर आ गये और बोले, "यह कैसा व्यवहार था तुम्हारा कि मास्टर जी से बोली भी नहीं? क्या वह अपमानित नहीं हुए?"

मैं उत्तर न देकर केवल शैलेन्द्र के मुख की ओर देखने लग गई। सम्भवतः मेरी नजरों में उन्हें भयभीत हिरणी की आँखों की चमक-सी दिखाई दी क्योंकि तभी वह बोले, "इतनी डरी हुई-सी क्यों हो?"

मुझे निरुत्तर पाकर वह बोले, "मास्टर जी के लिए भी चाय लगाओ। इकट्ठे ही नाश्ता करेंगे।"

मैं कुछ न बोली। शैलेन्द्र को वहीं खड़ा अपनी ओर घूरते हुए देख, आया को आवाज देती हुई बोली, "चाय रख दो डाइनिंग के कमरे में और नाश्ता कराओ इन्हें।"

शैलेन्द्र मेरे उपेक्षा-भरे शब्दों से चौंक उठे।

"तो तुम हमारे साथ नाश्ता नहीं लोगी?"

"मेरी तबीयत ठीक नहीं। आप जाइये, वह अकेले बैठक में बैठे हैं।"

"वेला—"

वह कुछ कहने जा रहे थे कि बीच ही में टोकती हुई मैं बोली "शैलेन्द्र ! भगवान के लिए जाओ। मैं लेटना चाहती हूँ।"

वह तुरन्त चले गये। आया डाइनिंग रूम में दोनों के लिए नाश्ता लगा रही थी। किवाड़ की आड़ में खड़ी होकर मैं फिर उनकी बातें सुनने लगी। "कुछ समझ में नहीं आता। कभी तो वह बिल्कुल ठीक दिखाई देती हैं, पर अचानक ही न जाने क्या हो जाता है कि वह परेशान और व्यथित हो उठती हैं।" शैलेन्द्र उनसे बातें कर रहे थे।

इरा भी चौके से आकर उनके साथ नाश्ता करने लगी थी। उन्होंने अपनी जेब से कुछ निकाला और इरा के बालों पर लगाने लगे।

मेरी इच्छा हुई कि ओट से हट कर वहीं चली जाऊँ और देखूं कि इरा के बालों में वह क्या उलझा रहे थे, पर पैरों में मानो बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं।

शैलेन्द्र उन मास्टर जी को यों इरा के प्रति करुण देख प्रभावित-से जान पड़े, ऐसा उनके मुख का भाव बता रहा था।

"हमसे डरती हो बेबी ?" वह इरा से पूछ रहे थे।

"अब थोला छा डरती हूँ—ज्यादा नहीं"—तुतलाती हुई इरा बोली।

शैलेन्द्र और वह दोनों हँस पड़े और साथ ही आया भी, जो एक ओर खड़ी थी।

"हम कौन हैं ?"

"मास्टर जी।"

"जोगी तो नहीं ?"

"जोगी भी हो। दाल्ही और मूंछ कटा दो न। फिर नहीं डरूँगी।"

फिर सबको हँसी छूट गई।

वह शैलेन्द्र को सम्बोधित कर बोले, "बेबी का मूल्य नहीं कर पाऊँगा, शैलेन्द्र बाबू ! इसे हमें दान कर दो।"

शैलेन्द्र तो गद्गद हो उठे, पर मैं रो पड़ी। खून का मोह जोगी का

जीवन अपना कर भी उन्हें विकल बना रहा था। अपनी सम्पदा पर अधिकार को तिलांजलि देकर वह इरा को दान के रूप में ग्रहण करने को व्याकुल दिखाई दे रहे थे। हाय रे दुर्भाग्य।

मातृता समाप्त कर उन्होंने उस दिन से इरा को पढ़ाना शुरू कर दिया। संध्या के समय शैलेन्द्र ने मुझसे भ्रमण के लिए चलने का प्रस्ताव किया तो मैंने ना कर दी। राघव भी तो उनके साथ थे। इरा को साथ लेकर वह दोनों चले गये।

इरा के बालों पर वह क्लिप लगा हुआ था जिसे नाचने के समय राघव उसे पहना गये थे। सोने का क्लिप था वह, ठीक उस टाई-पिन जैसा ही, जिसे वर्षों पहले मेरे अनुरोध पर कभी वह अपने लिए खरीद लाये थे। सुबह उनसे पढ़ कर जब इरा मेरे पास आई तो उस क्लिप को देख कर मुझे महसूस हुआ कि जैसे वह जाकर मेरे कलेजे में चुभ गया। उसे देख कर एक अव्यक्त वेदना से मैं कराह उठी थी। सुबह दस-पन्द्रह पृष्ठ ही उनकी डायरी के मैं पढ़ पाई थी। राघव ने उन सब बातों की चर्चा की थी, जिनका संबंध उनके विवाह से पूर्व जीवन से था। अपने चाचा जी की गरीबी और त्याग का, जिन्होंने उन्हें बी० ए० तक शिक्षा दिलवाई थी, वृत्तान्त लिखा था उन पृष्ठों में। उनके माता-पिता का तब ही स्वर्गवास हो गया था, जब वह बच्चे थे। मुझे ये सब बातें मालूम थीं, अतः कोई विशेष रुचि न लेती हुई मैं आगे का वृत्तान्त जानने को उत्सुक थी, कि कैसे उनकी मृत्यु का समाचार प्रसारित हुआ और गत चार-पाँच वर्षों तक वह क्यों अज्ञातवास में रहे!

वह घूमने चले गये तो मैं सुमन को आया के पास छोड़ तुरन्त उनके कमरे में चली आई और फिर उन पृष्ठों को लेकर पढ़ने लगी।

अतीत की घटनाएँ चित्रित हो मेरे सामने नाचने लगीं। एक-एक शब्द में हमारे विवाहित जीवन का इतिहास बन्द था। अपनी कुण्ठा और मेरे प्रेम का वर्णन कर उन्होंने क्षण-क्षण और मिनट-मिनट की घटनाओं को खूबसूरत तस्वीर उतार रखी थी। मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी

छूट पड़ी, पर फिर भी मैं पढ़ती गई। सुमन के रोने की आवाज सुनाई दी, तो तव कहीं मुझे समय का एहसास हुआ।

वह घूमकर अव किसी भी क्षण वापस आ सकते थे। कमरे में जैसे मैं सुवह देख चुकी थी, सिगरेटों के टुकड़े विखरे पड़े थे। मैं दौड़ कर दूसरे कमरे में आई और झाडू लेकर फिर वापस आने लगी तो आया वोली, "वीवी जी, कहाँ की सफाई करनी है, मैं किये देती हूँ।"

नहीं, कोई खास नहीं। तुम सुमन को खिलाओ।"

मैंने आकर कमरा साफ किया। फिर अपने कमरे से एक चारपाई, गद्दा और रजाई लेकर उनके सोने की ठीक व्यवस्था कर दी। कमरे में एक छोटी-सी मेज और कुर्सी भी रख दी। कमरे को थोड़ा रहने योग्य-सा वनाकर मुझे एक अज्ञात तृप्ति की अनुभूति हुई। मेरी इच्छा हो रही थी कि कमरे की व्यवस्था में यों परिवर्तन पाकर राघव की जो प्रतिक्रिया हो, वह उनके मुख के भावों का अध्ययन कर जान सकूँ, पर इतनी हिम्मत भला कहाँ कि नजर उठाकर उन्हें देख सकूँ। सन्दूक के अन्दर वन्द उनके कत्थई रंग के चोले को गालों से लगा कर कुछ क्षण आँखें वन्द कर मैं वैठी रही। उस कपड़े के स्पर्श से मेरे मन का सन्ताप पिघलता हुआ-सा मुझे महसूस हुआ। अंधेरा हो चला था, पर मैं विना लक्ष्य के अकेली कमरे में वैठी एक अपूर्व शांति महसूस कर रही थी मानो किसी कमरे में न होकर देव-मन्दिर में दुनिया के कौतूहल से मुक्ति प्राप्त कर रही थी। मेरी मुद्रा शान्त और मन विकारहीन था। जव मैं वाहर निकली तो पगों की गति में भी मन्थरता थी। आया कुछ कौतूहलवश मुझे देख रही थी पर उसकी जिज्ञासा को मैंने महत्व नहीं दिया।

सोने से पूर्व मैंने आया के हाथ एक गिलास दूध राघव के कमरे में भिजवा दिया।

अगले दिन भोर होते ही वाहर लान में आकर वह शैलेन्द्र को आवाज देने लगे। शैलेन्द्र निद्रामग्न थे पर मैं उनकी आवाज को सुनकर तुरन्त उठ पड़ी कि क्यों इतनी सुवह ही आज वह जग गये। वाहर दिन

क्षीण-सा प्रकाश हो गया था। किवाड़ों की ओट से देखा तो वह छड़ी लेकर घूमने को तैयार थे। मैं एकटक उन्हें देखने लगी। मह भूल ही गई कि वह शैलेन्द्र की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके मुख पर आज चमक थी और वह कुछ-कुछ प्रफुल्लित भी दिखाई दे रहे थे। वर्षों पूर्व रात को जब मैं उनके भावुक मिजाज को अपने विलास-चातुर्य से प्रसन्न कर उन्हें अपनी आत्मीयता की अनुभूति कराती थी तो अगली सुबह को इसी प्रकार वह प्रसन्नचित और आत्म-विभोर दिखाई देते थे। गम्भीर होते हुए भी इतने भावुक थे कि बच्चों की भाँति मुझे उनका मन रखना पड़ता था। मेरी तनिक-सी भूल और साधारण-सी उपेक्षा उनको भारी ठीस पहुँचा देती थी। कह नहीं सकती कि उन्हें छोड़ शैलेन्द्र की अंकशायनी बनने पर अब अन्दर-ही-अन्दर उनकी क्या प्रतिक्रिया रही हो। वह तो छोटे से दिल के थे, पर अब लगता था कि शिव की भाँति मेरी बेवफाई के कराल कूट महा विष को अन्तराल में समाकर उन्होंने महान् आत्मिक बल संचित कर लिया था वरना पुत्री की ममता से वंचित होने पर और पत्नी के छल से उत्पन्न मरणान्तक पीड़ा को वह सहन न कर पाते।

"शैलेन्द्र बाबू!"

विचारों के प्रवाह मे बहती हुई उनकी आवाज ने मुझे चौंका दिया। मैं शैलेन्द्र को उठाती हुई बोली, "मास्टर जी बाहर प्रतीक्षा कर रहे हैं। भ्रमण के लिए तैयार हो जाइये न।"

शैलेन्द्र जब घूम कर लौटे तो बोले, "आज मास्टर जी तुम्हारी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे।"

मेरे कानों में मानों वीणा झकृत हो उठी, जिसका स्वर मधुर होते हुये भी आत्म-वेदना से भरा हुआ था।

शैलेन्द्र बोले, "मास्टर जी का उल्लेख करने पर तो तुमने बड़ा उत्साह दिखाया था, अब पता नहीं क्यों, तुम उनसे पर्दा करने लगी हो?"

मैं जानती थी कि शैलेन्द्र अवश्य मुझ से ऐसा प्रश्न करेंगे। स्वाभाविक था उनका यह पूछना, पर सोच कर भी मैं समझ नहीं पा रही थी

कि कैसे शैलेन्द्र से सत्य प्रकट करूँ।

मनुष्य-योनि प्राप्त कर पशु की गति कौन चाहता है कि नित्य आंगन और खूंटे बदलता फिरे।

मैं बातों का विषय बदल कर बोली, "आपको आमलेट बना दूं ? आया अण्डे ले आई है।"

"हां, इच्छा तो है। पर तुम्हारी तबीयत कैसी हैं ?"

"पर मास्टर जी शायद ही आमलेट पसन्द करें।" शैलेन्द्र के प्रश्न की उपेक्षा कर बोली मैं।

"तुम्हें कैसे पता ?"

मुझे अपनी भूल महसूस हुई। फीकी हँसी में बोली, "साधू हैं, आपकी भांति कायस्थ नहीं।"

"पर तुम भी तो ब्राह्मण-परिवार की बेटी हो, केवल कायस्थों की बहू ही तो नहीं, फिर क्यों अण्डा लेती हो ?"

मुझे उनकी बात चुभ-सी गई। मैं बचपन से अण्डा खाती आई थी, पर आज जैसे मुझे पहली बार ब्राह्मण-परिवार की बेटी होने का एहसास हुआ। न जाने कहां से अकस्मात् ही ब्राह्मणों के संस्कार उस समय मेरी आत्मा में चेतन हो उठे। पावस के मेघों की भांति उनसे मेरा अन्तर-बाह्य आच्छन्न हो उठा।

में बोली, "आप डाइनिंग रूप में बैठिये, मैं नाश्ता भिजवाती हूं।"

"आज भी साथ नाश्ता नहीं करोगी ?"

"नहीं, कभी नहीं। मैं अण्डे नहीं खाती। आइन्दा कभी नहीं खाऊंगी। मेरे पिता जी चौके में भोजन करते थे। वैसा ही करूंगी।"

मैं बोल तो गई पर बहुत देर बाद मैंने महसूस किया कि उस समय शायद मैं मानसिक सन्तुलन खो बैठी थी, वरना अनायास ही यों अनर्गल कोप-प्रदर्शन न करती। मेरे यों उत्तेजित होने का न तो कोई कारण था, न कोई अवसर ही।

शैलेन्द्र केवल मेरा मुख देखते ही रह गये। वह न तो रुष्ट ही जान

पड़ते थे और न क्षुब्ध ही, केवल आश्चर्यचकित थे।

मैं उन्हें अपनी मन की अस्थिरता की कोई सफाई नहीं देना चाहती थी। अत: उन्हें खड़े यों अपनी ओर देखते हुए बोली, "वह बाहर के कमरे में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, पर आपको तो न जाने क्यों मुझे कुरेदने में आनन्द आने लगा है।"

यह मेरे तरकस से बहुत ही विषैला तीर छूट गया था। शैलेन्द्र भी आहत नजर आते थे। वास्तव में कुरेदने वाली वाली कोई भी तो बात नहीं कही थी उन्होंने। उस लांछन में स्वयं मेरी दुर्बलता और मन की खीझ परिलक्षित होती थी।

वह चुपचाप बाहर चले गए।

आया जब नाश्ता लेकर बाहर वाले कमरे में गई तो शैलेन्द्र को मैंने कहते हुए सुना, "आमलेट भेजने को कह रही थीं वह, तुम लाई नहीं ?"

आया संकोच प्रदर्शित करती हुई बोली, "अण्डे बीबी जी ने बाहर फेंक दिये।"

मैं दौड़ कर किवाड़ की ओट में हो गई।

राघव चकित और शैलेन्द्र मुझे क्षुब्ध दिखाई दिए।

"कुछ तबीयत ठीक नहीं है क्या ?" राघव शैलेन्द्र से पूछ रहे थे।

"कुछ समझ में नहीं आता। सुशील स्वभाव और नर्म प्रकृति में न जाने कहाँ से इतनी उग्रता भर आई है ?"

"कोई मानसिक रोग तो नहीं ?"

"निदान नहीं हो पाया अभी तक।"

कुछ रुक कर शैलेन्द्र बोले, "आप आमलेट आदि तो लेते होंगे ?"

"जी हाँ, पहले शाकाहारी था, लेकिन कुछ वर्ष मांस खाकर ही जीवित रह सका हूँ।"

मैंने सुना तो सुन्न रह गई। पहले तो राघव प्याज भी नहीं खाते थे। शैलेन्द्र बोले, "शाकहारी भोजन पौष्टिक नहीं होता। [illegible] हम सन्तुलित भोजन नहीं कह सकते।"

राघव हँस पड़े थे। बोले, "यह तो अपने-अपने विचार है, मांसाहारी होते हुए भी मेरे विचार शाकाहारी भोजन के पक्ष में हैं।"

अबके शैलेन्द्र को हँसी आ गई। "आपके अन्दर भी कुछ अस्थिरताएँ आ गईं क्या ?"—वह बोले।

"मजबूरी ही समझिये।"

"शायद बीमार पड़ गये थे ?"

"सभी कुछ हो गया।"

राघव शैलेन्द्र के संक्षिप्त प्रश्नों का संक्षिप्त ही उत्तर दे रहे थे, पर मुझे उनमें इतिहास छुपा महसूस हुआ। वास्तव में बाकी ही क्या रह गया था जो वह यह न कहते कि सभी कुछ हो गया।

शाम को वे दोनों फिर इरा को संग ले घूमने निकल गये, तो मैं आया से बोली, "मारकेट से गोश्त और अण्डे लेती आओ और कुछ पैकेट सिगरेट के भी।"

वह आश्चर्य में मेरा मुँह देखने लगी। उनका चकित होना स्वाभाविक था क्योंकि सुबह तो मैंने अण्डे फिकवा दिये थे और अब दुबारा न केवल अण्डे, अपितु गोश्त भी मँगवा रही थी। आया जानती थी कि मैं गोश्त नहीं खाती थी और इसी लिए हमारे घर में कभी गोश्त नहीं बनता था। शैलेन्द्र भले ही होटलों में जा कर गोश्त खा आया करते हों—कह नहीं सकती। आज यों गोश्त मँगवाये जाने पर क्यों न उसे फिर आश्चर्य होता। "जाओ, देर न करो। और एक लाइटर भी लेती आना।" पैसे देती हुई मैं बोली।

आया के जाने के बाद मैं सुमन को गोद में लेकर राघव के कमरे में घुस गई और कमरे को साफ कर पुनः उनकी आगे की जीवनी पढ़ने लग गई। आज जो वृत्तान्त मैंने पढ़ा, उससे मेरे रोंगटे खड़े हो गये और हृदय फटता हुआ-सा महसूस हुआ। मेरी आत्मा करुण चीत्कार कर उठी। उन्होंने बम्बई और फिर वायुयान-दुर्घटना के पश्चात् जंगलों में बिताये गये जीवन की करुण कहानी का मार्मिक उल्लेख किया था। जादूगरनी

के कारावास में रहते हुए जिन वीभत्स, रोमहर्षक घटनाओं का वृत्तान्त लिखा हुआ था, उनको सहज में कल्पना करना भी दुसाध्य था। पर वह कल्पना नहीं, आपबीती थी। वह उन बियावान जंगलों में एक ओर चार वर्ष तक नरक की घोर यन्त्रणा सहते रहे और मैं वैधव्य को त्याग दूसरी ओर लौकिक आकर्षणों से खिचती-खिचती चल्स में कश्मीर की घाटियों में प्रणय-लीला अभिनीत कर स्वर्ग के सुखों की खोज में शैलेन्द्र का दामन पकड़ अपनी लिप्साओं को तृप्त करती रही।

ओह, कितनी पापिष्ठा, स्वेच्छाचारिणी और कृतघ्न निकली मैं! पश्चात्ताप आँसू बन कर उस कमरे का फर्श तर कर रहा था। चापस अपने कमरे में आकर मैं सुमन को छाती से चिपका कर मूक क्रन्दन करती हुई सो गई।

रात का दूसरा पहर बीत जाने पर शैलेन्द्र ने मुझे उठाया।

"तुम भोजन नहीं करोगी?"

"मुझे भूख नहीं है।"

"लेकिन यह गोश्त और अण्डे किस लिए मँगवाये?"

"क्या माया ने गोश्त और आमलेट तैयार कर तुम्हें दिये नहीं?"

"उसे बनाना कहाँ आता है?"

"ओह!" मैं अनमनस्क हो उठी। समझ नहीं पा रही थी कि मेरा लक्ष्य क्या होता था और आचरण क्या कर बैठती थी।

शैलेन्द्र बहुत ही परेशान दिखाई दे रहे थे।

यह बोले, "क्या दिल्ली को सूचना भेज दूँ? तुम्हारे पिता जी आ जायेंगे।"

मैं उनके वक्ष से चिपक गई। रुदन करती हुई करुण स्वर में बोली, "किसी को न बुलाओ, वरना मैं जी न सकूँगी, शैलेन्द्र! मुझे केवल तुम्हारा आश्रय चाहिए।"

वह शायद और भी अधिक विभ्रान्त हो उठे थे।

मैं बोलती गई, "मेरे कारण आप भी परेशान हैं। पर [illegible]

कि मरते समय आपकी उदारता को न भूल पाऊँगी, चाहे भले ही आपके और एहसानों का मूल्य न चुका पाऊँ।"

शैलेन्द्र ने मुझे छाती से चिपका लिया था। मेरे अलकों को सहलाते हुए वह बोले, "वेला! अपना दुख बता ही दो न मुझे। क्यों निष्ठुर बनती हो?"

उनके शब्दों का स्पर्श पाकर मेरी पीड़ा और भी घनी हो उठी। फफक-फफक कर रो पड़ी मैं। मेरी उसासों से कमरा गूंज-सा उठा। न जाने कितना पानी बहा मेरी आंखों से। पर मुझे लगा कि रो कर तब मेरा दिल काफी हल्का हो गया था।

मैं लेट गई। हल्की आवाज में बोली, "आप सो जाइये। रात शायद बहुत बीत चुकी है।"

बिजली बन्द कर वह मेरे बिस्तर पर आकर ही लेट गये थे। मुझे अपने माथे और बालों पर देर तक उनकी हथेलियों का स्पर्श महसूस होता रहा। दोनों जागृत अवस्था में थे, पर अलग-अलग विचारों में तल्लीन। न जाने वह क्या सोचते रहे हों, पर मैं अपने को उन बियाबान जंगलों में सोया पा रही थी, जो सियारों के क्रन्दन अथवा हिंसक पशुओं की दहाड़ों से गूंजते रहते हैं। मुझे जादूगरनियों की वीभत्स शक्लें दिखाई दे रही थीं, जो अट्टहास करती हुई रात्रि के भयंकर अंधकार में उन सुनसान जंगलों में स्वतन्त्र हो विचरण करती-सी लगीं।

मुझे सिहरन-सी हुई और फिर मेरा ध्यान राघव की ओर चला गया जो उसी बंगले में मुझसे अलग जोगी के वेष में रह रहे थे।

मैं बिस्तर से उठी और अनायास ही मेरे पग राघव के कमरे की ओर मुड़ गये। राघव के कमरे की खिड़कियों से प्रकाश छन कर बाहर आ रहा था। मैं खिड़की की ओट में खड़ी हो कमरे के अन्दर झांकने लगी। बाहर नैनीताल की ठण्डी रात आस-पास की पहाड़ियों को अपने आगोश में ले नीरव और शान्त प्रतीत हो रही थी। कमरे के अन्दर राघव लिखने में तल्लीन थे। बंगले से नीचे पहाड़ी के ढलान पर मार्केट और मालरोड

र विद्युत की रोशनी [illegible] रही थी।

मैं न जाने कितनी देर तक [illegible] हुए देखती रही। [illegible] में अवतरित थे, [illegible] ी दाग और [illegible]

अकस्मात् शैलेन्द्र के [illegible] चौंक उठी।

वह बोले, "इतनी [illegible] हो?"

मैं भयभीत हो उठी थी, [illegible] हुई [illegible]

शैलेन्द्र उलाहना देते हुए बोले, "[illegible] वशीभूत हो चलीं?"

मुझे लगा जैसे [illegible]। शैलेन्द्र के शब्दों में [illegible] की सी ध्वनि थी। वह मेरी बाँह पकड़ कर बोले, "यहाँ [illegible] रक्त जम जायेगा। दिन के प्रकाश में तुम्हें मास्टर जी से संकोच [illegible] है। उस संकोच और लज्जा के आवरण को उतार फेंकने के लिये क्या यही सुनसान घड़ियाँ तुम्हें उपयुक्त लगीं? आओ, अन्दर मास्टर जी से मिल लो।"

अपमान से मैं झुलस उठी, पर साथ ही वेदना से कराह उठी।

"शैलेन्द्र!" एक करुण चीख मेरे मुँह से निकली और मैं बाँह छुड़ा कर अपने कमरे की ओर भाग गई।

तब न मेरी आँखों में जल-कण थे, न हृदय में कुछ समय पूर्व की अजीब तड़प। एक घायल पक्षी की भाँति वेदना में छटपटाती हुई मैं उस भय से त्रस्त थी जिसमें शिकारी के और अधिक सम्भावित तीखे हमलों की पीड़ा छुपी हुई थी।

थोड़ी ही देर बाद शैलेन्द्र मेरे कमरे में आ गये। बाहर कुछ देर शायद राघव के साथ वह बातें करते रहे, ऐसा मेरा अनुमान था। वह मुझसे कुछ न बोले, वरन् बिजली बन्द कर बिस्तर पर लेट गये। मैं

चिन्तन घटना का सिंहावलोकन

...र में बैठी-बैठी कुछ देर पूर्व घटी घटना का सिंहावलोकन
...चिन्तन में लीन हो गई।
...आँखों के सामने बाल्यावस्था से लेकर सुमन के पैदा होने तक
...चलचित्र की भाँति नाच उठा। कितने चढ़ाव और उतारों से
...ही, मेरी यह छोटी-सी जिन्दगी, जिसका अन्त मुझे अब प्रत्यक्ष
...देने लगा था। मुझे लगा कि मैं एक श्रापित पत्थर थी जिसे प्रतिमा
...कर शैलेन्द्र ने मन-मन्दिर में स्थापित किया, पर पत्थर का श्राप
...मन्दिर को भी खँडहर बना गया। शैलेन्द्र ने कुछ देर पूर्व मेरा
...न किया था, पर अपमान की अनुभूति की अपेक्षा मेरा हृदय शैलेन्द्र के
...करुण हो उठा। मेरी देह के अन्दर रक्त के किसी भी कण में विष
...प्त नहीं था, मन में कभी भूल कर भी किसी अनिष्ट कल्पना को मैंने
...श्रय नहीं दिया था, फिर भी प्रत्यक्षतः मैं राघव के दुखों का कारण बनी
...और अब शैलेन्द्र का जीवन नष्ट करने लगी थी। हाय रे दुर्भाग्य! कौन
...मेरा पक्ष लेकर मेरी प्रणयाग्नि में दग्ध इन दो पंखहीन अधजले परवानों
...के समक्ष साक्षी देता कि मैं निरपराध हूँ, अब भी उतनी ही भोली हूँ
जितनी कभी उन्हें दिखाई देती थी। लाचारी की प्रतीक और विरक्त-सी
उस घुप्प अंधकार में बैठी हुई मैं टप-टप वेदना के आँसू गिराती रही और
आखिर उठकर धीमे पगों से शैलेन्द्र के बिस्तर पर पहुँच गई। उनके चरण
पकड़ कर मैंने अपने मस्तक पर लगा लिये और फिर निरन्तर उन्हें चूमने
लगी।

शैलेन्द्र सम्भवतः जाग ही रहे थे, वरना गति न करते।

उन्होंने उठ कर मुझे अपनी गोद में बिठा लिया और कुछ क्षण मूक प्यार प्रदर्शित कर बोले, "मुझे माफ करो, बेला! जानता हूँ कि तुम जल रही हो, फिर भी उस ज्वाला में मैंने तेल डाल दिया। यह प्रीत की रीत नहीं, अपितु प्रतिशोध है।"

मैं उनके प्रगाढ़ आलिंगन में कस गई थी।

"तुम्हारी व्यथा मेरे पागलपन में परिणत होकर रहेगी। शायद इस...

मोह का पोषण कर रही हो तुम !"—वह आगे बोले।

"नहीं शैलेन्द्र !" मैं सिसकती हुई बोली, "केवल तुम्हारा मोह ही तो व्यवधान बना हुआ है कि मृत्यु का आलिंगन नहीं कर पा रही। कैसे छोड़ूं तुम्हें अधूरे सफर में ही ?"

मेरी बात सुनकर वह दर्द से भर उठे।

"अपनी पीड़ा को बाँटोगी नहीं, बेला ?"

"काश कि ऐसा कर पाती"—मैं बोली।

"मुझ पर भरोसा नहीं है क्या ?"

मैं उस अँधेरे में उनके गालों पर हाथ फेरती हुई बोली, "जीना चाहती तो भरोसा करती, शैलेन्द्र ! पर मैं मरना चाहती हूँ। जानती हूँ कि तुम मुझे मरने नहीं दोगे, इसीलिए भरोसा खो बैठी हूँ।" शैलेन्द्र सिहर उठे।

इसके बाद उन्होंने कितने ही प्रश्न किये, पर मुझे खामोश पाकर आखिर परास्त हो गये।

दिन बीतते चले गये। राघव को भी मैं अपनी झलक पाने को बेताब पाती, पर एक ही बँगले में रहते हुए भी वे मुझे न देख सके।

इरा को दिन-रात पढ़ाने के बहाने छाती से चिपकाये न मालूम मेरे प्रति क्या धारणाएँ बनाते रहे। पूर्णिमा का चाँद फिर एक बार और आसमान में छिटक आया।

शैलेन्द्र बोले, "चलो, ताल पर नौका चलावें।"

"मास्टर जी साथ नहीं हैं क्या ?"

"वह इरा को लेकर पहले ही निकल गये हैं।"

"मैं न जाऊँ तो क्या दिल दुखेगा आपका ?"

"यहाँ आये दो माह होने वाले हैं। एक दिन भी तो तुम मूड में नहीं आईं।"

मैं कैसे विरोध करती ? चुपचाप साड़ी बदल कर बहुत दिनों के बाद आज पहाड़ी की ढलान से नीचे उतरी। सीजन पीक पर था, पर

मुझे लग रहा था कि मैं जीवन के उन वसन्तों को लाँघ चुकी थी, जिनमें अन्दर कुहुक सुनाई देती है, जवानी पर बौर आता है और इर्द-गिर्द भ्रमर मँडराया करते हैं।

मुझे प्रकृति सजी-सँवरी दुलहिन न लग, पवित्र प्रौढ़ जननी-सी लगी जिसकी गोद में प्रच्छन्न शान्ति मिलती है न कि मस्ती। नौका पाषाण देवी के मन्दिर के ठीक नीचे नीले जल पर तैर रही थी कि हमें मन्दिर के पार्श्व में खड़ी इरा का स्वर सुनाई दिया। वह हमें आवाज दे रही थी। उसके साथ राघव थे। देख कर मैं फिर सिहर उठी।

मैंने सिर पर साड़ी का आँचल ओढ़ लिया था। मेरी यह क्रिया शैलेन्द्र की दृष्टि से छुप न सकी और सकुचाते हुए उन्होंने प्रश्न कर ही डाला।

बोले, "किश्ती को लौटा दूँ ?"

मैं निरुत्तर हो उनकी आँखों में झाँकने लगी।

उनकी दृष्टि मेरे मुख पर ही गड़ी हुई थी।

वह फिर बोले, "मैं मास्टर जी को बँगला खाली करने को कहे देता हूँ।"

मैं चौंक उठी। एकटक उन्हें देखती रही और फिर उनके वक्ष का सहारा लेती हुई बोली, "इतने निठुर न बनो !"

वह भी करुण स्वर में बोले, "मृत्यु से हर कोई भय खाता है। तुम्हें भी भयभीत पाता हूँ; पर न जाने क्यों फिर भी तुम उसके पास खिंची चली जा रही हो। यह कैसा रहस्य है ? कैसी लीला है ? वेला, कुछ तो बताओ !"

मैं अब फिर रोने को आतुर हो उठी थी। अपनी रक्षा का अन्य कोई भी तो साधन नहीं था मेरे पास।

"मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता तो क्यों न ताल की इन मचलती हुई लहरों के आगोश में समा जाऊँ"—व्यथित स्वर में शैलेन्द्र बोले, तो मैंने जोर से उन्हें पकड़ लिया और चिल्ला-सा उठी, "वापस बँगले में

चलिये।"

रात को मैं बिस्तर पर छटपटा रही थी तो शैलेन्द्र मेरे पास आये और बोले, "मैं समझ गया हूँ बेला कि क्यों विरहिन की मुद्रा धारण कर रखी है तुमने। इसीलिये न, कि तुम्हारा सौन्दर्य द्विगुणित हो उठे उस मुद्रा में। तुम जवानी के ज्वारभाटे का तो परिचय दे चुकीं, शीतल बयार का स्पर्श करना शेष था। आज तुम्हारी इस कमनीयता पर भी कुर्बान हो जाऊँ।"

वह झुक कर मुझे अपनी बाँहों में समेटने लगे। एक तेज दुर्गन्ध से मेरा मस्तिष्क फटने लगा। उन्होंने शराब पी रखी थी।

मैं उछल कर दूर जा हटी।

वह मादकता के प्रभाव में बोले, "जितना तड़पाओगी, उतनी ही तड़प बढ़ेगी और आनन्द आयेगा, पर ख्याल रखना कि मैं मर न जाऊँ।"

वह मेरी ओर बढ़े।

"शैलेन्द्र! यह क्या पागलपन है? तुमने शराब पी रखी है?"

"वरना बेला, तुम तक पहुँच कैसे पाता? तुम होश में नहीं हो इसी-लिए मैंने भी बेहोशी के जाम लिए हैं। समान स्थिति में क्या अब भी मजा न आयेगा? आओ न, मेरी बाँहों में समा जाओ। कब से यों ही भटकती रही हूँ यहाँ की रातें।"

मैं आश्चर्य से शैलेन्द्र को देख रही थी। पूर्व ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था उनका।

उन्होंने मुझे पकड़ कर बिस्तर पर लिटा दिया।

"बस प्रयोग कर रहे हैं आप"—मैं गुस्से में बोली।

"तुम मेरी पत्नी नहीं क्या, जो इसे अपराध समझती हो? हँस कर नयनों से कटाक्ष करती हुई तुम नित्य मुझे घायल करती रहीं। आज जरा घायल हिरनी की भाँति छटपटाओ तो हम भी जानें कि तुम्हारे सौन्दर्य की कौनसी अवस्था हमें अधिक उत्तेजित करती है। हम तो शिकारी हैं।"

वह बाज की भाँति मुझ पर झपट पड़े थे।

"नहीं-नहीं"—मैं जोर से चिल्लाई और भरपूर शक्ति से अपने को मुक्त करने का प्रयास करती हुई बोली, "पशु न बनो शैलेन्द्र ! कितनी श्रद्धा और नाज करती आई हूँ मैं तुम पर। यों मेरे उस गढ़ को न गिराओ। इस हालत में भी मैं अपने को सुरक्षित समझती हूँ।"

"तुम किसी गढ़ में नहीं हो, बेला। महलों में हो, जहाँ हमारे अरमान पल रहे हैं, जज़बात मचलते हैं। आज ज़रा जज़बात ही तो मचल उठे हैं।"

मैं निःसहाय हो रो उठी। करुण चीत्कार से बँगले की दीवारें काँप उठीं। मैं ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही थी, "हाय मेरा यह अन्त ! लाचारी का इतना भयानक मजाक !"

पर शैलेन्द्र घोर नशे में थे, तभी तो उन करुण चीत्कारों का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

"शैलेन्द्र बाबू"—बाहर ज्योत्स्नापूर्ण वातावरण में तभी यह शब्द गूँज उठे।

शैलेन्द्र की जकड़ शिथिल पड़ गई और मैं मुक्त हो अलग जा खड़ी हुई।

शैलेन्द्र ने स्विच ऑन किया और बाहर झाँकते हुए बोले, "मास्टर जी ! आप हैं क्या ?"

"हाँ, तबीयत ज्यादा खराब है क्या उनकी ?"

"उनकी नहीं, मेरी तबीयत खराब हो गई थी, मास्टर जी !"

वह बैठक वाले कमरे में चले गये। रोशनी से सारा घर भर गया। आया भी जाग गई थी।

"वह चीख-सी रही थीं"—राघव बोले।

मैं कम्पित देह को लेकर किवाड़ की ओट में खड़ी हो गई।

"मृत्यु मँडरा रही है, मास्टर जी ! इस प्रेत-ग्रसित बँगले पर। न मालूम किसका इन्तजार है उसे, बेला का अथवा मेरा।"

राघव के मुख पर भयभीत उत्सुकता थी, चिन्तामग्न भी दिखाई देते थे।

"बात क्या है ?" कृत्रिम अज्ञानता प्रकट की राघव ने, जिसमें घोर निष्ठुरता और सम्भवतः प्रतिशोध भी छुपा रहा हो।

"मृत्यु का रहस्य कोई समझ सका है क्या ? दिल्ली से अपने और शैला के पिता जी को बुलाया था, पर वह भी नहीं आये। इसलिये मौत और भी भयानक नज़र आ रही है।"

राघव चौंक उठे।

मैंने सुना तो मैं भी घबरा उठी। "अब क्या होगा ?"—एक भारी प्रश्न मूर्तिमान हो उठा, मेरे समक्ष। शैलेन्द्र राघव को नहीं पहचान पाये थे, पर पिता जी और मेरे श्वसुर भी धोखा खा जायें, यह कैसे सम्भव था ? फिर ? मैं एक आशंका और अज्ञात भय से ग्रस्त हो उठी। अगली सुबह तार भी मिल गया। पिता जी माता जी सहित अगले ही दिन प्रातः नैनीताल पहुँच रहे थे।

मुझे बेहद कम्पन हुआ। इच्छा हुई कि शैलेन्द्र से प्रकट कर दूँ मास्टर जी का रहस्य, पर मुझे लगा कि अब कोई लाभ नहीं था। यदि शैलेन्द्र अपने या दिल्ली कोई तार भी भेजते तो उसका ठीक समय पर पहुँचना असम्भव था। मैं अपने को सँभालने का भरसक प्रयत्न करने लगी। डर था कि कहीं हार्ट फेल न हो जाये। मैं अथाह दुःख में कराह उठी कि क्यों मैं शैलेन्द्र से राघव का भेद छुपा गई। यदि बता देती तो ? तो भी···तो भी विनाश निश्चित था। सेर के पात्र में दो सेर पानी डाल देने पर आधा भाग ढुलक ही जाता है। मैं एक भी बूंद नष्ट होते नहीं देखना चाहती थी, चाहे जलपात्र बनकर रीता ही क्यों न अपने को महसूस करती। पर अब ? अब एक का मोह त्यागना अनिवार्य नहीं, तो मजबूरी अवश्य थी। मैं रो उठी। कैसे चयन कर पाती—प्रसून के उन दो कलशों में। दोनों में संजीवनी थी। मैं निश्चय कर उठी कि एक म्यान में दो खड्ग भले ही न रह सकें, पर दो पतियों में बँट कर मैं निर्वाह करूँगी, चाहे—

अपनी आहुति ही क्यों न देनी पड़े। एक मेरा सुहाग का सिन्दूर दूसरा मंगल-सूत्र। दोनों ही समान उपकरण थे मेरे सौभाग्य के। कभी दोनों टकरा गये, तो फिर पहले स्वयं ही को समाप्त कर दूंगी। निश्चय ने मेरा आत्म-बल लौटा दिया। दिनों से चली आ रही मन व्यथा अकस्मात् लोप हो गई। मैं स्वस्थ और शान्त दिखाई दी।

राघव इरा को पढ़ाने बैठक के कमरे में आये तो परेशान और व्य थे। पढ़ाने की अपेक्षा वह इरा पर अपना प्यार और ममत्व लुटा रहे मानो प्यार और मोह का सारा खजाना आज ही खाली कर देना च थे।

शैलेन्द्र बैठक में आकर उनसे बोले, "कल भोर ही मेरे ससुर जायेंगे। चलेंगे न आप साथ उन्हें लेने मोटर-स्टैण्ड तक ?"

"चला चलूंगा।"—उनके स्वर में गम्भीरता थी।

रात को वह शैलेन्द्र से बोले, "इरा रोती तो नहीं माँ के बगैर, व उसके वात्सल्य से मेरा रात्रि का एकाकीपन कट जाता।"

शैलेन्द्र बोले, "वह तो आपसे बहुत घुल-मिल चुकी है। खुशी-र रहेगी।"

रात को इरा राघव के पास सो गई। आया दो गिलास दूध व में पहुँचा आई थी। एक तो उन्हीं के लिये जैसे रोज मैं पहुँचा दिया क थी, और दूसरा इरा के लिये।

शैलेन्द्र जल्दी ही बिस्तर पर चले गये। कल उन्हें प्रातः ही पिता को लेने तल्लीताल मोटर-अड्डे पर जो जाना था।

आया राघव के कमरे में दूध देने गई थी। उसे लौटने में देर हो तो मैं बाहर बैठक के कमरे में चहल-कदमी करने लग गई। उसे आर देने में संकोच महसूस कर रही थी। वह आई तो मैं बोली, "बड़ी लगा दी तू ने।"

"आज तो मास्टर बड़ी लंबी-चौड़ी बातें कर रहा था।"

उत्सुक हो पूछा मैंने, "क्या कहते हैं ?"

"पूछ रहे थे कि मैं दिल्ली से ही आपके साथ आई हूँ अथवा यहीं नियुक्त हुई।"

"फिर?"

"मैंने बता दिया; फिर आपकी चर्चा करने लग गये।"

"क्या?"

"कुछ भी नहीं छोड़ा। सभी बातें पूछने लग गये—तुम्हारी मालकिन की तबीयत क्या खराब है—क्यों है? भला, बीबीजी! मैं क्या बताती?"

"क्या बताया तूने?"

"मैंने कहा, मुझे नहीं मालूम।"

"बस?"

आया सकुचाने लगी तो मैं बोली, "तू डर क्यों रही है, साफ-साफ बता। इनाम दूँगी तुझे।"

आया जैसे चौंक-सी उठी।

रहस्य प्रकट करती हुई सी बोली, "इन मास्टर जी के रंग-ढंग ठीक नहीं हैं, बीबी जी। देख तो मैं पहले से ही रही थी, पर बोलना ठीक नहीं समझा—बाबूजी के दोस्त जो ठहरे। आज आप से बताये देती हूँ, पर बाबूजी को कुछ कहना मत।"

उसकी मुख-मुद्रा ने मेरी उत्सुकता और भड़का दी। वह भूमिका ही बांधे जा रही थी। मैं बोली, "काम की बात कर, क्या देखा तूने और क्या सुना?"

वह बोली, "उनकी नजर ठीक नहीं। वही कोशिश में रहते हैं कि आपका मुखड़ा देख लें, पर भला बड़े खानदान की जोरू, परदे से बाहर होगी कभी? जमाना तो देखो कि जिस थाली में खाते हैं, उसी में छेद करने लगे।"

"आया! तुम मतलब की बात करो, मैं सब समझती हूँ।"—उकता कर बोली मैं।

"मतलब की ही बातें हैं, बीबी जी। आज पूछने लगे कि तुम्हारी

बीबी बाबू को प्यार नहीं करतीं क्या ? छी-छी, बदमाशों-जैसी बातें नहीं हैं ये ?"

"ओह, फिर ?"—मैं आया की टिप्पणियों से परेशान थी।

"मैंने उन्हें फटकार दिया। मैं बोली—ऐसी देवी-स्वरूप औरत पर लांछन लगाते तुम्हें शर्म नहीं आती। पर वह हँसने लगे। यदि नेक आदमी होते तो क्या यों हँसते बीबी जी ? बाबू जी ने किसी ऐसे गैर के पास भेज दी लड़की सुलाने को।"

मैं गुस्से में बोली, "तुम्हारे बाबू जी तुम से ज्यादा समझदार हैं, आया। फजूल बकवास नहीं करते।"

वह मानो बुरा मान गई। गुस्सा करती हुई बोली, "पूरी बातें सुनतीं आप, तो पता चलता कि मास्टर जी आस्तीन के साँप हैं।"

मुझे उसके भोलेपन पर दया-सी आ गई। बोली, "तू कुछ बताये तब तो सुनूं।"

"कह रहे थे कि त्रिया-चरित्र का क्या भरोसा ! नित्य-नित्य खसम बदलती रहती हैं। एक नजर से दूर हुआ तो दूसरे को पकड़ लेंगीं। उससे दिल हटा, तो तीसरे की खोज करेंगी। अब बोलिये आप ही, कि क्या पड़ी थी ये बातें मुझे सुनाने की ? मैंने तो खसम नहीं बदला था। और आप ? हे राम, इतनी परदादार औरत आज जमाने में देखने को भी न मिले। फिर क्यों करी उन्होंने ये त्रिया-चरित्र की बातें ? नजरों में खोट भर गया, तभी न ?"

आज मुझे राघव की प्रतिक्रिया सुनने को मिली थी। दुख से कराह सी उठी मैं। आया को क्या पता पता था कि उसका क्रोध भ्रम पर आधारित था। मैं वास्तव में उस श्रेणी की स्त्री नहीं थी जिसके प्रति वह मान-प्रदर्शन कर रही थी। ब्राह्मण-परिवार में पोषण पाकर भी उस पवित्रता को कायम न रख सकी थी जिसे अपने अन्दर विद्यमान पाकर आया को आज नाज हो उठा था।

"और भी कुछ बातें हुईं, आया ?"

"अजी छोड़ो, बीबी जी ! ऐसों को क्यों ज्यादा मुँह लगाती हैं ? कमसन जाति की है तो इसके यह मानी थोड़े ही हैं कि कोई औक़ात नहीं रखती ।"

मुझे माया के स्वाभिमान पर ईर्ष्या हो उठी । काश, यह दम्भ मैं भी निभा पाती, जिसे शैलेन्द्र के पिता खोखला कह कर चुटकियां में उड़ा बैठे थे, पर जो वास्तव में खोखला नहीं, गरिमा-युक्त था—दिमाग का फ़ितूर नहीं, चरित्र की दृढ़ता थी । मुझे स्मरण हो आये अपने ही मुँह से निकले हुए वर्षों पहले कहे थे शब्द, जो इसी चारित्रिक दृढ़ता के उन्माद में मैंने राघव से कहे थे । पराये महलों की तुलना में तब मैंने खँडहर के पास रहने में नाज प्रकट किया था । बोली थी कि राघव यदि तुम खँडहर हो, तो तुम्हें महल में परिणत कर सूंगी पर पराई वस्तु पर आसक्त न हूँगी । क्या उस चारित्रिक दृढ़ता को मैं स्थिर रख सकी ? क्या हकीकत यह न थी कि मैं खँडहर छोड़ महल की चकाचौंध से आकर्षित हो उठी ? नारी त्याग की प्रतिमूर्ति समझी जाती है । क्या मेरा आचरण नारी के आदर्शों के अनुरूप निकला ?

पश्चात्ताप आग बन कर मुझे हर क्षण जलाने-सा लग गया ।

माया जाकर अपनी कोठरी में सो गई पर मैं न जाने कितनी देर बैठक के कमरे में बैठी अपने दुर्भाग्य पर, चरित्र की निर्बलता पर आँसू बहाती रही । शैलेन्द्र के पिता मेरे ससुर थे, अतः यह कहना तो उच्छृं-खलता होगी कि उनसे मुझे घृणा हो उठी; पर यह सच है कि कायस्थ जाति के प्रति घोर असन्तोष से मेरा अन्तर भर उठा, केवल इसलिये कि एक कायस्थ ने मुझे फुसला कर पथ-भ्रष्ट किया, जानी-पहचानी पग-डण्डी से उठाकर अपरिचित चौराहे पर ला पटका ।

अगली प्रातः मैं नींद में थी कि माया मुझे झकझोरती हुई उठाने लगी ।

"बाहर आइये, बीबी जी ! जल्दी कीजिये ।"—वह बेहद घ[illegible] हुई सी दिखाई दी ।

मैं हड़बड़ा कर लान में आई तो वह बोली, "देखिये, वह मास्टर बोरिया-बिस्तर उठाकर भाग रहा है। वह बदमाश ही नहीं, पक्का चोर भी निकला। आप देख लीजिये, कोई चोरी तो नहीं हुई।"

मैंने उधर दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि सचमुच राघव तेजी से पहाड़ी की उतराई उतर रहे थे।

मैं कांप गई। भले-बुरे का ज्ञान खो अन्दर कमरे में आकर मैंने चप्पलें पहनीं और स्वयं भी उनका पीछा करते हुए पहाड़ी की उतराई पर भाग खड़ी हुई। राघव उतराई पार कर ठण्डी सड़क पर पहुंच चुके थे। मैं उस खतरनाक ढलान पर फिसलने के भय से मुक्त भागी जा रही थी कि तभी पीछे से शैलेन्द्र की आवाज सुनाई दी।

"रुको बेला! यह पागलपन मत करो।"

आया ने शायद उन्हें भी जगा दिया था। पर सुनी-अनसुनी कर मैं दौड़ती चली जा रही थी।

शैलेन्द्र मेरा पीछा कर रहे थे। चिल्लाते हुए वह समझा रहे थे, आश्चर्य प्रगट रहे थे, मैं पागलों की भांति दौड़ी चली जा रही थी।

पाषाण देवी का मन्दिर समीप आ गया था। शैलेन्द्र ने मेरा पीछा करते हुए, आखिर मुझे पकड़ ही लिया, पर राघव मोड़ को पार कर मन्दिर के आगे निकल चुके थे। वह मेरी दृष्टि से ओझल हो चुके थे। भोर के मन्द प्रकाश में नैनीताल नींद में सोया हुआ अभी चेतन नहीं हुआ था, पर पाषाण देवी के मन्दिर के आगे पुजारी और अन्य कुछ व्यक्तियों की कानाफूंसी चल रही थी।

'किसी ने आत्म-हत्या की है'—उस कानाफूंसी के यह शब्द मेरे कानों में पड़ गये।

शैलेन्द्र मेरे साथ थे।

मैंने ये शब्द सुने तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

"रा-घ-व"—लम्बी चीख मारती हुई मैं बेहोश हो गई। कब तक बेहोश रही, यह नहीं मालूम। पर जब होश में आई तो देखा, शैलेन्द्र

विभ्रान्त पागलों की भाँति गोद में लिए मुझे देख रहे थे। आसपास सभी व्यक्ति दुखी और शोक-मग्न दिखाई दिये।

नीचे ताल के नीले जल मे भँवर उठ रहे थे जो उस स्थान पर ताल की अगाध गहराई का सबूत देते थे।

मेरी दृष्टि उन भँवरों पर पड़ी, तो मेरी आत्मा फिर हाहाकार कर उठी। राघव के कम्बल और दरी की पोटली उन भँवरों के बीच चक्कर लगा रही थी। परेशान जीवन के दर्दनाक अन्त को यों साक्षात् घटते देख मैं फिर संज्ञाहीन हो चली।

दुबारा मेरी आँखें खुलीं तो भोर का धूमिल प्रकाश धूप में परिणत हो गया था। पिता जी सामने आँसू पोंछ रहे थे और माँ बिलख-बिलख कर रो रही थीं। वे सम्भवतः उसी सुबह नैनीताल पहुँचे थे जैसे कि उन्होंने पूर्व सूचित किया था। माँ की गोद में सिर पटक कर मैं विलाप कर उठी।

"इन भँवरों मे मेरा सर्वस्व डूब गया, माँ। मृत्यु का प्यार लेकर अब यह ताल खामोश है। इस खामोशी मे मेरे जीवन का टूटा हुआ संगीत बन्द है।"

फिर शैलेन्द्र की ओर मुड़ कर वह बोली, "मास्टर जी राघव थे, शैलेन्द्र! इन्ही के पिता, जो जीवन भर रोते रहे, केवल मेरे कारण। रुदन असह्य हो उठा, तो आज मुक्त हो गये, प्रीत की यन्त्रणा से।"

पिता जी मुझे यों बेहोश देख दुखी थे, पर मेरा क्रन्दन सुन आश्चर्य में ही डूब गये।

"क्या कह रही है, यह?" शैलेन्द्र से बोले वह।

शैलेन्द्र क्षुब्ध थे। गम्भीर स्वर में बोले, "हाँ, पिता जी! राघव वायुयान-दुर्घटना में मरे नही थे। अज्ञात रूप से हमारे साथ ही एक डेढ़ माह से रह रहे थे। पर बेला ने कभी संकेत नहीं किया इस बात का।"

मेरी ओर मुड़ कर शैलेन्द्र बोले, "यकीन करो, बेला! यदि तुम इसे रहस्य न रखतीं तो, तुम्हारी खुशी के लिए मैं बड़े से भी बड़ा त्याग करने

को तैयार हो जाता। पर तुमने मुझे बड़ा होने का मौका नहीं दिया—शायद इसलिए कि तुम राघव को इतना चाहती थीं, कि मुझे और अधिक न सही, पर राघव के समान भी ऊँचा देखना तुमने पसन्द नहीं किया। प्रीत का दम्भ ही ऐसा होता है कि वह टूटता नहीं, निभाने वाला भले ही टूट जाय।"

मैं फफक-फफक कर रो रही थी।

उस दुख में कैसे कबूल करती, जय-पराजय का लेखा-जोखा करना !

सिसकियाँ लेती हुई ही बोली, "जो पहले ही बड़ा हो, उसे और बड़ा क्या बनाती ? धरातल पर कीड़े की भाँति दीमक लगाने वाली तो मैं हूँ, जो विनाश का कारण बनी। बहुत कुछ ढक चुका, शेष ढह जायेगा।"

मुझे कण्डी पर बिठा कर वापस बँगले पर लाया गया तो आया इरा का हाथ पकड़ और सुमन को गोदी में ले मेरे पास आकर विलाप-सा करने लगी। बँगले में मातम छाया हुआ था। मुझे और आया को रोती देखकर इरा भी रोने लगी थी पर शायद समझ नहीं पा रही थी कि क्यों उसके नाना जी लॉन में कुर्सी लगा उसमें लुढ़के पड़े थे, क्यों शैलेन्द्र क्षुब्ध और गम्भीर हो, दूसरी कुर्सी में उन्हीं के पास बैठे हुए ध्यानमग्न-से बैठे थे और क्यों मैं सबकी उपेक्षा कर बिस्तर पर जाकर लेट गई थी।

तभी वह मृत्यु का मौन भंग हुआ। फिर कानाफूंसी का स्वर सुनाई दिया, तो आया और माँ जो निरन्तर मेरे समीप बैठी हुई रोती जा रही थीं, बाहर आँगन में आईं।

किसी आगन्तुक की सी आवाज सुनाई दी मुझे। एक व्यक्ति शैलेन्द्र से मिलने आया था।

"कहाँ से आ रहे हैं, आप ?" पिता जी पूछ रहे थे उससे।

"मैं धर्मशाला का कर्मचारी हूँ। शैलेन्द्र बाबू के नाम पत्र है।"

कुछ देर फिर चुप्पी रही कि अचानक शैलेन्द्र का उत्तेजित स्वर सुनाई दिया।

मैं उठ कर बाहर लॉन में चली आई।

शैलेन्द्र के हाथ में पत्र था। उन्होंने मुझे देखा और फिर पिता जी के हाथ में पत्र देते हुए बोले, "राघव का पत्र है। सम्भवत: भय्या रात लिख गये हों, पर स्वयं देने में संकोच कर गये।"

पर पढ़ते-पढ़ते सभी वह चौंक पड़े।

"भोर होते ही तो उनकी मृत्यु हो गई, यह पत्र आपके हाथ कब दे गये?"

उन्होंने आश्चर्य में आगन्तुक से प्रश्न किया।

"यह आप क्या कह रहे हैं? किस की मृत्यु हुई आज?" आगन्तुक और भी आश्चर्य में बोला।

"राघव की, जिनका यह पत्र है।"—शैलेन्द्र बोले।

"भगवान के लिए ऐसा न कहिये। उनको तो मैं अभी हलद्वानी की बस में बिठा कर आ रहा हूँ।"

सबके साथ अब मैं भी अचम्भित हो उठी। देह में ऐसी कम्पन हुई कि सँभालना कठिन हो गया। शैलेन्द्र ने कुर्सी से उठ कर उस पर मुझे बिठा दिया और आगन्तुक से बोले, "उन्हीं की आप चर्चा कर रहे हैं न, जिनकी लम्बी-सी दाढ़ी और मूंछें थी, जो साधु-वेष में रहते थे?"

"जी हाँ, जो धर्मशाला छोड़ एक-डेढ़ मास से आपके साथ रह रहे थे।"

"यह आपको कैसे पता?"

"वाह साहब, उनकी दरी-कम्बल की गठरी को लेकर तो स्वयं मैं नीचे तक आया था। संध्या का समय था। मैं पाषाण देवी के दर्शनों को चला गया था और वह पढ़ाई पढ़ने लगे थे। आपके यहाँ एक बच्ची को पढ़ाना शुरू किया था न उन्होंने?"

"लेकिन उनकी दरी-कम्बल की गठरी को तो ठीक पाषाणदेवी के नीचे ताल के भँवरों में घूमते हुए देखा हमने। किसी के डूबने का खबर सुनाई दिया था पुजारी को।"

"छी-छी, ऐसी कल्पना भी न करें आप। हाँ, वह अकेले ही थे आज।

कोई सामान साथ न था। जो कुछ आपने देखा, वह भी सच हो सकता है।"

मेरे सामने अब दूसरी ही तस्वीर नाच उठी। सम्भव है कि जानबूझ कर राघव ने वह पोटली तालाब में फेंक दी हो ताकि भागने में उन्हें सुविधा रहे। वह नहीं चाहते थे कि वेला उनका पीछा करते हुए, उन्हें पकड़ सके।

घोर अनहोनी पर सबकी आँखों में आश्चर्य के आँसू थे। किसी के मुंह से शब्द नहीं निकल रहे थे।

## दस

राघव के लोप हो जाने की रोमांचकारी घटना के दो-तीन दिन बाद हम दिल्ली आ गये।

शैलेन्द्र उस दिन दरियागंज ठहर कर अगली सुबह नई दिल्ली अपने घर चले गये, पर मैं इरा और सुमन-सहित, दरियागंज पिता जी की कोठी पर ही रुक गई। शाम को शैलेन्द्र तो नहीं आये पर उनकी माता जी के साथ पिता जी आकर बोले, "बेटी! तुम्हें शैलेन्द्र को सब बता देना चाहिये था। हम आकर राघव से मिलते। जो कुछ हुआ, सब नियति द्वारा पूर्व-निश्चित था। विवेक से काम लेने पर उलझी को सुलझाया जा सकता था।"

उपदेश देने लग गये थे मानो मेरे अन्दर हृदय या भावना ही नहीं थी। पत्थर समझ कर जैसे वह फिर अपनी छैनी का मुझ पर प्रयोग करने लगे।

पर मैं कुछ न बोली। मुँह नीचा किये सुनती रही।

वह बोले, "शैलेन्द्र भी बहुत क्षुब्ध है। पर क्षोभ करने से स्थिति बनती नहीं, बिगड़ती है। समझदार मनुष्य जीवन को परीक्षण मात्र समझ कर हमेशा रास्ता निकालता है। तुम्हें भी मन के अंधकार को दूर कर रास्ता बनाना है।"

वह शायद मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में थे, पर मुझे मौन पाकर बोले, "आज तुम हमारे साथ चलो, फिर एक-दो दिन बाद शैलेन्द्र सहित वापस चले आना ताकि इन्हें भी दु:ख न हो।"—अपने प्रस्ताव के समर्थन में उन्होंने माँ और पिता जी की ओर देखा पर मेरे माता-पिता तो जड़ बन चुके थे मानो विचार और वाक-शक्ति खो बैठे थे।

मैं फिर भी चुप रही तो मेरे ससुर थोड़ा और गम्भीर हो बोले, "तुम जानती तो हो कि तुम्हारे पीछे अब अकेले शैलेन्द्र की खुशी नहीं, हमारी भी खुशी है। तुम दो परिवारों के चिराग हो। यों बुझी-बुझी रहोगी तो सबको दु:ख पहुँचाओगी। आलोक दो, बेटी! अंधकार नहीं।"

मुझे अब ज्यादा बातें सुनना और बोलना पसन्द नहीं था। उनकी मान्यता से उकता कर बोली, "सुमन अभी गोद का बच्चा है। थोड़ा बड़ा हो जाये, तो भेज दूँगी।"

मेरे शब्दों में भयंकर विस्फोट की सी ध्वनि थी। उसका अर्थ लगाकर सब अचम्भे में आ गये।

मेरे ससुर बोले, "तुम यह क्या कह रही हो, समझ में नहीं आया?"

मेरे अन्दर युवतियों की लज्जा लोप होकर प्रौढ़ का विश्वास आ गया था। बोली, "आप रास्ता अपनाने की बात कर रहे हैं पर मैं पहले मंजिल तो निश्चित कर लूँ कि किधर जाऊँगी। आपने तो मुझे दो-राहे पर लाकर रख दिया।"

"गलत कह रही हो; मैंने तुम्हें मंजिल दिखाई थी।"

"यही सही, पर जहाँ मैं पहुँच गई, वह मंजिल नहीं, वियावान है। अनजाने में गलत निर्देशन कर गये आप।"

मेरे ससुर तनिक गुस्से में आ गये। वोले, "तुम्हारे हित में मैं पुत्र तक की वाजी लगा गया और तुम मेरे दाँव को गलत सिद्ध कर रही हो?"

"मैंने कहा तो है, पिता जी कि वह अनजाने की गलती थी आपकी। अनजाने में क्या गलत दाँव नहीं लगाये जाते?"

वह निरुत्तर हो मेरा मुंह देखने लग गये।

मैं वोली, "आप शैलेन्द्र की दूसरी शादी कर लीजिये। मेरे रिश्ते में वैसे कोई अन्तर नहीं आयेगा। जैसी पहली थी, वैसी ही अब भी रहूँगी, पर उनकी खुशियों का अवलम्बन नहीं वन सकूँगी।"

मेरे शब्दों से सन्नाटा-सा छा गया। मेरी माँ कुछ वोलने वाली थी, पर मैं उठकर दूसरे कमरे में आ गई।

दो परिवारों के वीच जो मुक्त आदान-प्रदान चलता था, उसमें कुछ गतिरोध-सा आ गया, पर किसकी हिम्मत थी जो इस गतिरोध को समाप्त करने वीच में हस्तक्षेप कर सके। केवल शैलेन्द्र के पिता जी को उसका दम्भ था, पर उस दम्भ को मैं तोड़ चुकी थी। एक दिन शैलेन्द्र आये और मुझ वोले, "तुमने पिता जी के दिल को क्यों दुखा दिया?"

"मैंने जानबूझ कर तो कोई गलती नहीं की।"

"पर अनजाने की गलती भी तो क्षम्य नहीं होती। आखिर अन में की गई गलती पर ही तो तुमने पिता जी को कोसा है। स्वयं गलती कर तुम कैसे अपने को दोषमुक्त समझती हो?"

मैं शैलेन्द्र के शब्दों पर गौर करने लग गई।

मैं वोली, "मैंने केवल यथार्थ वात कही थी।"

"तुमने मेरी शादी का प्रस्ताव नहीं रखा था?"

"उसे ही तो मैं यथार्थ कह रही हूँ।"

"पर तुम्हारे होते हुए?"

"तो क्या मैंने राजन के होते हुए दूसरी शादी नहीं की है ?"

"तुम अब प्रतिशोध ले रही हो क्या ?"

"मेरे साथ जिस चीज को आप हठ की संज्ञा देते हैं, आपके साथ वह प्रतिशोध कैसे हो सकता है ?"

"राजन को मृतक स्वीकार किया गया था, तुम जीवित हो।"

"मुझे भी मृतक ही समझिए।"

"यह तुम्हारी हठ हो सकती है, वास्तविकता नहीं।"

"मैं हठ को वास्तविकता में परिणत कर दूंगी ताकि आपको दुःख न रहे कि एक पत्नी के भी होते हुए आपको दूसरी शादी करनी पड़ी।"

शैलेन्द्र चुप हो गये थे।

मेरी ओर घूरते हुए थोड़ी देर बाद बोले, "तुम कुछ भी करो, वेला ! स्वतंत्र हो, पर मैं दूसरी शादी नहीं करूँगा। वास्तविकता से दूर जाना मैं छिछोरापन समझता हूँ। तुमने मेरे जीवन में प्रवेश किया है तो तुम्हें मनाता हुआ ही सुखी रह सकूंगा—तुम्हें छोड़कर नहीं।"

शैलेन्द्र के शब्दों में अपने पिता जी के समान हठ अथवा दम्भ नहीं दिखाई दिया मुझे। मेरी ऐंठ कुछ ढीली तो हुई, पर मेरा क्रोध अभी पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ।

मैं बोली, "मुझे आपके पिता जी ने दूसरी शादी के लिए क्यों प्रेरित किया और अब क्यों उनकी प्रेरणाओं का स्रोत सूख चुका ?"

शैलेन्द्र बोले, "यदि तुम पिता जी का अपमान करोगी तो मैं चला जाऊँगा। मैं छुरी लेकर बात करने नहीं चला हूँ। राजन जब नैनीताल में थे, तब तुम मुझे तनिक भी संकेत कर देतीं तो मैं तुम्हें वहीं छोड़ कर दूसरी शादी कर लेता। मेरे पिता जी तब मुझे भी अवश्य दूसरी शादी करने की प्रेरणा देते। लोग भूल नहीं चुका, निर्मल के मन में पूर्ववत् वहम बना आ रहा है। क्या तुम चाहती हो कि कटुता छोड़ कर वह-तनाव पैदा कर दे ?"

शैलेन्द्र का उत्तर सुन कर मैं ठण्डी-सी पड़ गई।

इरा की वर्षगाँठ आई तो शैलेन्द्र आकर बोले, "आज चलकर वर्षगाँठ मना लो न।"

"आप बच्चों को ले जाइये। मुझसे कहीं आना-जाना न हो सकेगा।"

"कमजोरी को स्थान न दो, वेला! तुम्हारा आचरण कहीं पर भी मलिन नहीं रहा, जो इतना पश्चात्ताप कर रही हो। यह तुम्हारी केवल मानसिक दुर्बलता है।"

बहुत दिनों बाद मेरी आँखों में फिर आँसू आ गये।

मैं बोली, "सच-सच बताओ, शैलेन्द्र! क्या मुझसे तुम्हें सहानुभूति नहीं है?"

"क्या अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं तुम्हारे पास नहीं है?"

"जानती हूँ। पर क्यों फिर तुम मुझे प्रलोभन देते रहते हो? मुझे बताओ न, कि मैं कौन हूँ—सदाचारिणी अथवा दुराचारिणी? मेरी कोई गति भी है? एक गर्भ में दो अलग-अलग बीजों को पोषण देकर तुम मुझे दुनिया के सामने आने को कहते हो! नहीं जानते कि मुझसे तुम्हारा कितना बड़ा अहित हो चुका है? तुम्हारे स्नेह और आत्मीयता के प्रतिदान के रूप में मैं तुम्हारी सन्तति की रगों में गन्दा खून भर गई। मुझसे अभी भी लगाव रखोगे?"

शैलेन्द्र परेशान-सा दिखाई दिये। सिर पर हाथ रख कर बैठे रहे।

कुछ रुक कर बोले, "तुम विनोबा जी के आश्रम में हो आओ, वरना तुम पागल हो जाओगी।"

वह इरा और सुमन को ले गये। उसके बाद इरा को उन्होंने कॉन्वेन्ट स्कूल में भर्ती कर दिया। कभी-कभी वह मेरे पास आ जाती, पर प्रायः शैलेन्द्र उसे अपने ही पास रखते।

साल-दो साल और गुजर गये तो मैं सचमुच एक दिन दूर—दक्षिण में तैलंगाना जिले में विनोबा जी के दर्शनों के लिए प्रस्थान कर गई। उन दिनों वहाँ साम्यवादियों के विरुद्ध विनोबा जी त्याग और अहिंसा के सिद्धान्तों को लेकर मोर्चा ले रहे थे। कुछ माह रहकर जब मैं वाप

दिल्ली आई तो सुमन को भी शैलेन्द्र ने नर्सरी में भर्ती करा दिया था। दोनों बच्चों में से किसी को भी मेरी अनुपस्थिति नहीं खली थी। इस समय मेरे अन्दर कुछ मानसिक स्थिरता अधिक होती थी।

शैलेन्द्र ने मेरी वापसी का समाचार सुना, तो मुझे मिलने आये और बोले, "सुना है कि साम्यवादियों ने वहाँ भीषण उत्पात मचा रखा है। यदि टूटे हुए पुल और सड़कों का निर्माण करना हो, तो भारत सरकार को अनुरोध भेज देना। मेरी सेवायें प्रस्तुत हो जायेंगी और फिर तुम्हारे साथ मैं भी सर्वोदय के कार्यक्रम को निकट से देख सकूँगा।"

मैं हँस पड़ी। बोली, "विनोबा जी व्यक्तियों को दलों में विभक्त नहीं देखते। वह समूची मानवता के आदर्शों को लेकर अंतःक्रान्ति में विश्वास रखते हैं।"

"दो दलों के अस्तित्व में तो वह भी विश्वास करते होंगे—एक शान्त और दूसरा उग्रवादी?"

"शान्त और उग्रवादी होना तो मानव की प्रकृति है। उससे वह दलों में विभक्त नहीं होता। मन की तह ही परिवर्तन का सूत्रपात करती है।"

शैलेन्द्र हँसने लगे थे। बोले, "मेरी पत्नी तो अब सेंट हो गई है। और होगी क्यों नहीं? तूफान के संकटों से गुजर जो आई है। तूफान में रहते हुए कोई ऐसा करे, तो हम जानें!"

वह नहीं जानते कि उन्होंने व्यंग्य किया था या [illegible] था मैं ही वह [illegible] थे, वे बातें। मैं [illegible] का विचार करती हुई बोली, "सुमन को भी स्कूल में भर्ती करा दिया है क्या?"

"सारा काम निर्विघ्न रूप से चल रहा है। [illegible] तो क्या [illegible] नहीं [illegible]?"

मुझे भी अब हँसी छूट आई। बोली, "आज कल क्या हो रहा?"

"उनकी सर्विस को इस संस्थाओं के साथ मिला रहा हूँ, जो [illegible] है।"

"बच्चों को कहीं नहीं जाते?"

"पहले यह तो देख लेता कि गृहस्थ से मुक्ति प्राप्त कर उनकी माँ मोह से भी मुक्त हुई है या नहीं।"

मैं उनके निष्ठुर व्यंग्य से आहत-सी हो गई।

बोली, "मुझे विचलित न कीजिये। जिस मार्ग पर बढ़ रही हूँ, वहाँ ऊँचाई है।"

"मैं तुम्हें ठोक-पीट कर भेज रहा हूँ, ताकि चढ़ने के बाद गिर न सको; यह स्वीकार क्यों नहीं करतीं ?"

मैं फिर अवाक् हो चली थी।

"क्या आप समझते हैं कि मैं यह न कर सकूँगी ?" शंका प्रकट की मैंने।

"वाह ! चढ़ाई मानव ही तो पार करते हैं, पर सभी नहीं, सैकड़ों और हजारों में से एक। और तब उन्हें हम मानव नहीं, महात्मा कहते हैं। तुम भी यदि महात्मा बन गई तो मुझे प्रसन्नता ही होगी क्योंकि तुम्हारा उल्लेख करते हुए इतिहास मुझे भी नहीं भुला पायेगा। पर इतनी सतर्कता बरतना कि जो भी तुम बनो, उसमें छल न हो। आजकल के महात्माओं में छल ज्यादा दिखाई देता है और इसीलिए उनका इतिहास में नाम-निशान कुछ न होगा, इसे ध्रुव सत्य समझो।"

मैं हँस पड़ी। हँसती हुई ही बोली, "एकदम नहीं, आहिस्ता-आहिस्ता ही बन सकूँगी।"

"हाँ-हाँ, कोई जल्दी नहीं। तुम्हारी उम्र में तो महात्मा रंग-रलियाँ मनाते हैं। हड्डियों में थोड़ी सख्ती आ जाने पर ही यह दुर्गम पथ प्रशस्त होता है। तुम जवानी की दोपहरी में ही अपनी नजाकतों से हमें महरूम कर बैठीं, तो क्यों न आशा रखें कि अवश्य युग-प्रवर्त्तन में सहायक होगी, अवश्य इतिहास का निर्माण करोगी।"

मैं बिलकुल झेंप गई। बोली, "उड़ाइये आप मेरी हँसी !"

"चलो, चुप हो जाते हैं।"

मुझे उनका अभिनय बड़ा प्यारा लगा। खिलखिलाकर हँस

पड़ी मैं।

कुछ दिनों के बाद फिर मैं विनोबा जी के पास चली गई। प्रस्थान करने से पूर्व एक बार सास-ससुर से मिलने नई दिल्ली भी गई थी। वह कुछ दु:खी तो थे पर मेरे प्रति कोई भी मलिन भाव उनके दिलों में नहीं था। मैं फिर दिल्ली पूरे दो साल बाद आई और पश्चात् इसके, तब से यही क्रम चलता रहा, क्योंकि सर्वोदय के कार्यक्रम में इतना उलझ चुकी थी कि मुझे तब अपना स्थान, दिल्ली में नहीं, अपितु किसानों के मध्य दिखाई देने लगा जहाँ मुझे मानवता के साक्षात् दर्शन होते थे। पहले तो मैं विनोबा जी के साथ रहकर पद-यात्रा करती रही, पर बाद में स्वतंत्र रूप से अकेली भूदान-यज्ञ में कूद पड़ी। मैं एक के बाद दूसरे गाँव में अपना शिविर डालती हुई दक्षिण भारत का दौरा समाप्त कर उड़ीसा और बिहार तक पहुँच गई। समाचार-पत्रों के सम्वाददाता हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गये थे। मुझसे इण्टरव्यू लेने और मेरे चित्र उतारने को सम्वाददाताओं के झुण्ड-के-झुण्ड मेरे शिविर के बाहर प्रतीक्षा करते हुए दिखाई देते थे। उन्हें प्रायः मेरी निजी सचिव बातचीत कर टाल दिया करती थी, पर कुछ विशिष्ट अवसरों पर मुझे उनके प्रश्नों का उत्तर देना ही पड़ता था। मैं नहीं चाहती थी कि मेरा व्यक्तिगत प्रचार कर समाचार-पत्र मुझे नेत्री का रूप दें। पर हो इसके विपरीत रहा था। मेरी इच्छा के विरुद्ध न केवल मेरे भाषण समाचारपत्रों में उद्धृत होने लगे थे, अपितु मेरी आयु, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की भी समाचार पत्रों में चर्चा होने लगी। समाचार-पत्रों में अपना चित्र देख और भिन्न-भिन्न टिप्पणियों को पढ़कर बरबस मुझे बड़ी झेंप महसूस होती। लज्जा से मैं लाल हो उठती।

इरा और सुमन को लेकर शैलेन्द्र मुझे मिलने आये हुए थे तो एक दिन दिल्ली के एक प्रमुख पत्र का सम्वाददाता पहुँच गया और इण्टरव्यू लेते हुए बोला, "आर० दत्त० की गतिविधियों के समाचार तो मिलते ही होंगे आपको ?"

मैं बोली, "मेरा अनुमान है कि तेलगाना में स — — —

क्रान्तिकारियों ने हिमालय के आँचल में अपनी गतिविधियों का केन्द्र स्थापित कर लिया है।"

"लेकिन वे तो अपने को साम्यवादी नहीं कहते।"

"पर उनके दल के तौर-तरीके तो साम्यवादी दल जैसे ही हैं।"

"आपकी उनके कार्यक्रम के बारे में क्या राय है?"

"मैं विनोवा जी के सिद्धान्तों में आस्था रखती हूँ।"

"आप जिस आग को तैलंगाना में बुझाकर आई हैं, उससे अब गढ़वाल का हिम-प्रदेश झुलसने लगा है। क्या हम आशा करें कि हिम-शिखरों में वहाँ की प्रकृति के अनुरूप शान्ति और शीतलता को लौटाने के लिए प्रयाण करेंगी आप?"

मैं मुस्करा कर बोली, "तो क्या मैदानों में सैलाब आने के भय से चिंतित हो उठे हैं आप?"

वह बोले, "तब स्थिति उतनी भयप्रद न होती। मैदानों में सैलाब आ चुका है और भयंकर वेग से युवकों के समुदाय को अपने लपेट में वहा ले जा रहा है। गढ़वाल और निकटवर्ती प्रदेश की शापित जनता का रक्त, जो पहले हिम-खण्डों की भाँति जमा हुआ था, अब आर० एस० की लगाई आग से, खौलकर उग्र विचारधारा में परिणत हो बाढ़ पैदा कर गया है।"

मैं बोली, "खौलना प्रकृति का क्रम ही तो है, ठीक उसी प्रकार जैसे खौलने के वाद में शान्त हो जाना। लाभ की वात केवल इतनी ही है कि खौलने से प्रत्येक वस्तु की सफाई हो जाती है।"

मेरे होंठों पर वही संयत मुस्कान थी, पर सम्वाददाता फटी-फटी आँखों से मुझे देख रहा था।

मैं चर्चा को समाप्त करती हुई बोली, "आप शिकंजी पीयेंगे? अन्य कोई शर्बत तो मिलेगा नहीं।"

वह मेरे व्यक्तित्व से प्रभावित हो आगे कुछ न बोल सका।

शिविर के अन्दर लाकर मैंने उसे शिकंजी पीने को दी।

जो बौखलाहट कुछ समय पूर्व उसके चेहरे पर थी, वह तिरोहित होकर अथवा शिष्टाचार से जाती रही।

वह शैलेन्द्र की ओर संकेत कर बोला, "इन महानुभाव का परिचय पा सकता हूँ ?"

"मेरे पति हैं, एक्जीक्यूटिव इंजीनियर हैं, और यह दो मेरे बच्चे हैं।" हरा और सुमन की ओर संकेत किया मैंने।

वह आश्चर्य में मेरी ओर देखता रहा।

"तो आप विवाहिता ही नहीं, माँ भी हैं ?" आश्चर्य से बोला वह।

मैं अन्दर से लज्जा के मारे छुई-मुई हो गई, पर बाहर मुख पर मैंने कोई वैसे भाव नहीं आने दिये।

शैलेन्द्र हँसते हुए उस सम्वाददाता से बोले, "क्यों साहब ! आपको आश्चर्य क्यों हुआ ?"

"मुख पर आच्छन्न कौमार्य को लक्ष्य कर कौन कहेगा कि ये विवाहिता हैं ?"

मैंने सुना तो लज्जा से पानी-पानी हो गई। उबल कर वह नम्रता मानो मेरे कपोलों पर भी तैर गई।

कुछ दिन बाद न केवल उस इन्टरव्यू का समाचार प्रकाशित हुआ, अपितु एक श्रेष्ठ नायिका की भाँति समाचार-पत्रों में अपना चरित्र-चित्रण पढ़ने को मिला। मेरी नारी-प्रकृति अपनी झाँकी पाकर गद्गद्-सी हो उठी।

मुझे लगा कि नेत्री, दार्शनिक और समाज-सुधारक, मेरे सब कई रूप थे; पर पहले मैं नारी थी, बाद में सब-कुछ।

# ग्यारह

## डा० बड़थ्वाल के शब्दों में

राघव-जैसे दृढ़-संकल्प, चरित्रवान्, विवेकशील और कर्मठ युवक को पाकर मेरा स्वप्न साकार हो उठा था। गांधी जी की नीति से असन्तुष्ट होकर मैं सुभाष बोस की प्रेरणा पर स्थापित फारवर्ड ब्लाक का सदस्य बनकर मातृभूमि की सेवा में जुट गया था। पर सन् १९४१ में सुभाष बाबू के अचानक लोप हो जाने पर दल की गतिविधियाँ उतनी सक्रिय न रहीं कि मुझे सन्तुष्ट रखतीं। इसीलिए मैं एक संकल्प को लेकर अपने जन्मस्थान को वापस लौट आया। मैं तब लखनऊ-विश्वविद्यालय में इतिहास का प्रोफेसर था और अपने जन्मस्थान गढ़वाल में एक विद्वान के रूप में मेरी अच्छी प्रतिष्ठा थी। गुप्त रूप से मेरी देश-सेवा का प्रचार वहाँ की भोली जनता में पर्याप्त हो चुका था। मैंने गुप्त रूप से अपने संकल्प को कार्यान्वित करने की दिशा में 'युवक संघ' नाम के दल का संगठन किया और तन-मन-धन से दल के पोषण में लग गया।

सलाण परगने में जिस पहाड़ की तलहटी पर मेरा गांव स्थित था, उसी पहाड़ के शिखर पर लम्बी-चौड़ी समतल भूमि में, मैंने एक आश्रम की स्थापना की। सिलोगी के नाम से यह स्थान, देश भर में प्रसिद्धि पा गया। सिलोगी का प्राकृतिक सौन्दर्य तथा रमणीकता अन्य स्वास्थ्य-वर्धक स्थानों की तुलना में अधिक ही होगी, कम नहीं। चीड़ और दे दारु के घने वृक्षों से आच्छादित वह पर्वत-शिखर, जिसे वहाँ के लोग 'दी का डाण्डा' यानी दीपा पहाड़ के नाम से जानते हैं, अनुमानतः समुद्र-स से सात हजार फीट ऊँचा है और चारों ओर हिमालय की बर्फ से

शुभ्र चोटियों का ऐसा विहंगम दृश्य प्रदान करता है कि शायद ही ऐसा दृश्य अन्यत्र देखने को मिले।

सिलोगी मेरी गतिविधियों का केन्द्र था। मुझे दल के संगठन में स्थानीय जनता से पर्याप्त सहयोग मिला। अर्थ और जन-शक्ति का अच्छा संचय हो रहा था। मुझे अब ऐसे शिक्षित और अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो संस्था की व्यवस्था के संचालन में तो योग देते ही, पर साथ ही उत्तरोत्तर दल को संगठित करने में मेरी सहायता भी करते। आश्रम का वास्तविक रहस्य अभी अंग्रेजी सरकार के समक्ष प्रकट नहीं हुआ था। मुझे एक विद्वान् योगी और आश्रम को अध्यात्म-शिक्षण का स्थल समझ कर अंग्रेजी सरकार, आश्रम की गतिविधियों से आँखें मूँदे हुई थी। उन दिनों द्वितीय महायुद्ध जोरों पर था। जो विज्ञापन मैं समाचार-पत्रों में देता, उस ओर किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं होता।

तभी एक दिन साधु-वेष में राघव मेरे पास आया। वह क्लान्त, जीवन से थका-हारा प्रतीत होता था। उसके बात करने के ढंग से और मन की विरक्तता को लक्ष्य कर मुझे लगा कि मैं जिन व्यक्तियों की ढूंढ़ में था, उनमें से एक तो मुझे मिल गया। मैंने राघव से कई प्रश्न किये। दीन-हीन स्थिति में होते हुए भी वह स्वाभिमान, दम्भ और दृढ संकल्प का प्रतीक-सा बन कर मेरे प्रश्नों का उत्तर देता रहा। मैंने उसका पूर्व परिचय लेना चाहा, पर वह साफ इन्कार कर गया।

उसके व्यक्तित्व से आकर्षित हो, मैंने आश्रम की व्यवस्था का भार उसे सौंप दिया। कौन इस बात पर विश्वास करेगा कि राघव को देश मेरे उत्तराधिकारी के रूप में जान गया था, पर मैं राघव का पूर्व परिचय तक नहीं जानता था।

मैं दल का कार्यक्रम बनाता और राघव उसे क्रियात्मक रूप देता। मेरे हिस्से में अब केवल चिन्तन करना रह गया था; आश्रम का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से राघव ने संभाल लिया था। दल के स्वयंसेवकों को कभी साल में एक-आध बार ही मेरे दर्शन होते थे। राघव ही उनका नेता, परामर्श-

दाता और मार्ग-प्रदर्शक था। दल की कुंजी व्यावहारिक रूप से राघव के हाथ में थी। मेरे हाथ में केवल वही स्वयं था। इस प्रकार दल का प्रत्यक्ष नेतृत्व राघव ही करता। आश्रम में बैठे हुए नीतियों को निर्धारित करना ही मेरा काम रह गया था।

मेरी धारणा थी कि अंग्रेज भारत में सुदृढ़ शासन करते रहे तो इसी कारण कि शासन-तंत्र निष्ठावान कर्मठ सेवकों द्वारा संचालित होता रहा। फ्रांस का इतिहास मेरे समक्ष था। अमेरिका की शासन-प्रणाली एवं अन्य राष्ट्रों के राजनैतिक ढांचों और आन्तरिक परिस्थितियों से मैं परिचित था। मेरा दृढ़ निश्चय था कि भारत-जैसे विशाल देश के स्वतंत्र होने पर किसी भी राजनैतिक व्यवस्था के सफल होने की सम्भावनाओं को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता था जब तक कि शासन-तंत्र के लिए निष्ठावान, सर्वांगिक रूप से प्रशिक्षित-नागरिक-सेना का निर्माण न हो। प्रशासन पैनी तलवार के समान होता है। ठीक प्रयोग से रक्षा और दुरुपयोग से विनाश निश्चित है। बच्चों के हाथ में तलवार देना जैसे खतरे से खाली नहीं, ठीक उसी प्रकार प्रशासनिक गुत्थियों से अनभिज्ञ नागरिकों को प्रशासन के भारी उत्तरदायित्वों से लादना, खतरनाक था। अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए तब हमारे अन्दर भावात्मक एकता थी, पर संघर्ष-समाप्ति पर भी वह एकता अविच्छिन्न रहे, इसका विश्वास करना कठिन था। मेरे मस्तिष्क में तब नाना प्रकार की कल्पनाएँ उतरती और लोप होती रहतीं। भारतीय नागरिकों का पृथक्-पृथक् झण्डे लिए, भिन्न-भिन्न नारे लगाते, पानी के बुलबुलों के समान उदय और अस्त होने का भविष्य-चित्र मेरे आँखों के सामने नाच उठता। भविष्य की इन टेढ़ी-मेढ़ी उभरती और मिटती रेखाओं के स्थान पर कलाकार की तूलिका से बनाये गये भारत माता का भव्य मानचित्र बनाने का संकल्प, तब मेरे मस्तिष्क में कौंध गया और मैंने दल के कार्यक्रमों में त्याग और अनुशासन को सर्वोपरि स्थान दिया। यही वह कलाकार की तूलिका थी, जिससे भारत-माता का भव्य चित्र उभर सकता था।

देश स्वतंत्र हुआ तो मैंने अपनी कल्पना को वास्तविकता में घटते देखा। अंग्रेजों के गुण उनके साथ चले गये थे, अवगुणों की धूल बिखर कर देशवासियों की आँखों में जा बैठी थी। देश-भक्तों की सेना राष्ट्र-उत्थान के शिविरों का परित्याग कर सरकारी दफ्तरों में स्वतंत्रता की खैरात टीपने चल पड़ी थी, मानो किसी धर्मशाला में बाबा जी के भण्डारे पर याचकों की भीड़ टूट पड़ी हो।

राघव कभी शंका करता तो मैं विश्लेषणात्मक विवेचना प्रस्तुत कर, उसकी शंकाओं का समाधान करता।

एक दिन संस्कृति पर चर्चा छिड़ी तो मैं बोला, "कोई भी चीज हो, उसकी प्रामाणिकता पहले सिद्ध होनी चाहिए। दीन-अपाहिज को पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करने की दिशा में पहले उसकी शारीरिक भूख मिटाना अनिवार्य है। शिक्षा और प्रशिक्षण से उसका चारित्रिक और मानसिक विकास करना दूसरी आवश्यकता है और तदनन्तर प्रौढ़ व्यक्तित्व देकर उसे मुक्त किया जा सकता है कि वह अपनी अन्य इच्छाओं की भी पूर्ति कर ले—यानी मनोविनोद और उन समस्त रसों का उपभोग, जो नागरिकों के पूर्णता-प्राप्त जीवन को परिलक्षित करते हैं; उनके विचार, आदर्श, व्यवहार, रीत और मर्यादाओं का दिग्दर्शन कराते हैं। [illegible] सभ्यता भले ही जाहिर करे, देश के [illegible] स्वरूप को [illegible] नहीं कर सकती जितने उस देश की [illegible] होती है।

"आपका विचार है कि [illegible] के [illegible] से देश की संस्कृति परिलक्षित नहीं होती?"

"तुम्हारा पहला प्रश्न यह होना चाहिए कि देश की संस्कृति है क्या बला!"

राघव हँस पड़ा था। बोला, "यह तो [illegible] डाक्टर साहब।"

"क्यों, तुम लेखक नहीं हो?"

"कविताएं करता हूं, या फिर कुछ [illegible] लिखी हैं। [illegible]

किया।"

मैं गंभीर हो बोला, "हमारी संस्कृति के मुख्य अंग रहे हैं, सहिष्णुता, क्षमा, विश्वबन्धुत्व की भावना और त्याग। हमारे देश ने जब-जब पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त किया तो वह लिप्सा की ओर नहीं बढ़ा, त्याग की ओर अग्रसर हुआ। पाश्चात्य देश ऊँचे उठे, तो लिप्सा की ओर बढ़े। हमने शक्ति अर्जित की तो साम्राज्य स्थापित नहीं किये, सहिष्णुता और प्रेम लेकर विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार किया। पाश्चात्य देशों में नयी विचार-धाराओं का सूत्रपात रक्तरंजित क्रान्तियों से हुआ, हमारे देश में, शंकराचार्य, बुद्ध, जैन और गुरु नानक जैसे सन्तों से जीवन मीमांसा सुनने को मिली। जब-जब हमारा व्यक्तित्व खण्डित हुआ, हमारी सांस्कृतिक चेतना भी साथ ही लोप होती रही। पर जब भी वह उभरी, उसका स्वरूप एक ही रहा। इस समय राष्ट्र का व्यक्तित्व खण्डित है। नागरिक अशिक्षित, चरित्रहीन और अभावग्रस्त हैं। उनमें सांस्कृतिक चेतना का प्रश्न ही कहाँ उठता है! संस्कृति के नाम पर नाच-गानों के कार्यक्रम को प्रोत्साहन देकर तो इस समय केवल उस विलासिता का नग्न प्रदर्शन हो रहा है जो युद्ध से छूटे हुए सिपाहियों के मनोरंजनार्थ राजा लोग युद्धोत्तर काल में कभी आयोजित कर लिया करते थे। संस्कृति लौकिक जीवन की परिचायक है। भला नृत्य और कव्वालियों से हमारी क्या पहिचान होगी? क्या यही कि भारतवासी अच्छे कव्वाल हैं अथवा यह कि यहाँ की युवतियाँ कमाल की नर्तकियाँ होती हैं?"

"कला को भी आप हीन दृष्टि से देखते हैं?"

"कला वह है जो जीवन में उतर चुकी हो। पूर्णता-प्राप्त जीवन, व्यक्तित्व-विकास के लिए जिन रुचियों का आश्रय लेता है, वह कला है—आत्मा का परिष्कृत प्रतिबिम्ब। नृत्य और संगीत की सृष्टि आत्मा को ऊँचा उठाने के लिए ही होती रही। बताओ तो कि इन कव्वाल और नर्तकियों का आत्मा को ऊँचा उठाने में कितना योग रहा है कि इन्हें तुम कलाकार की संज्ञा दो?"

"तो सौदा हो रहा है डाक्टर साहब ?"

"बिलकुल और वह इसलिए कि प्रशासन स्वयं सौदागर बन बैठा है। हम जब संस्कृति की चर्चा करते हैं तो उस ऐतिहासिक स्वरूप की आड़ में अपने वर्तमान घिनौने आचरणों की मिथ्या डींग हाँकते हैं। भला खण्डित व्यक्तित्व के अन्दर सांस्कृतिक चेतना कैसे सम्भव है ?"

"लेकिन सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की हमारी नीति का सम्मान तो विदेशों में भी हो रहा है।"

"इसलिए कि देश के अन्दर चल रही गाली-गलौच और प्रान्तीयता की भावनाओं का या तो उन्हें पता नहीं; अथवा वे इतने सभ्य हैं कि हमारा कोढ़ हमें नही दिखाते।"

मैं फिर बोला, "आज हम कहते कुछ हैं और करते-कुछ हैं। वाणिज्य-वृत्ति सभी श्रेणियों के व्यक्तियो में पाई जाती है। बनिया खरीदता कुछ और भाव है, बेचता कुछ और भाव है।"

"लेकिन समाधान ?" राघव झुँझला कर पूछ बैठता।

मैं तब उसे दल का कार्यक्रम समझाता, यानी अनुशासित नागरिकों के संगठन की वांछनीयता पर प्रकाश डालता। कसौटी से निकले हुए सोने के समान झिलमिलाते त्यागी, निष्ठावान् युवकों की सेना के संगठन पर जोर देता जो भगोने में पक रही खिचड़ी के समान राष्ट्र के भ्रष्ट लोक-जीवन को स्वच्छ रूप दे सकें।

राघव की निष्ठा और सहयोग से आखिर मैं एक विशाल संगठन स्थापित करने में सफल हो गया था। दल में केवल उन्हीं युवकों को लिया जाता या जिनके प्रति मुझे अथवा राघव को पूर्ण विश्वास हो जाता कि वे राष्ट्र हित के लिए दल के आह्वान पर अपना सब-कुछ त्याग कर दें। आश्रम में प्रशिक्षण-केन्द्र थे जहाँ उच्च वेतनों पर विद्वान् आचार्य नियुक्त थे। दल के अशिक्षित सदस्यों को शिक्षा दी जाती थी और [illegible] को भिन्न-भिन्न प्रशिक्षण ताकि वे प्रशासन के उत्तरदायित्वों को संभालने के योग्य बन सकें।

राघव बड़ी योग्यता से इस विशाल संगठन का सफल नेतृत्व कर रहा था। उसकी लेखनी में कमाल का जादू तो था ही, अब उसकी वाणी में भी वही ओज भर गया था।

दल के सदस्यों में और बाहर वह राघव दत्त के नाम से नहीं अपितु आर० दत्त० के नाम से विख्यात हो चला था। उत्तर प्रदेश, पंजाब और बिहार का तूफानी दौरा कर वह युवकों को विशेष रूप से आकर्षित कर चुका था। सदस्यता प्राप्त करने के लिए युवकों के झुण्ड के झुण्ड सिलोगी] आते, पर केवल उन्हें ही दल की सदस्यता मिलती जो महीनों तक राघव के नेतृत्व में रहकर अपनी निष्ठा, लगन, अनुशासन और चरित्र से उसे संतुष्ट कर पाते।

पर एक समय ऐसा आया कि इस विशाल संगठन का सर्वोच्च सेना-पति ही स्वयं विचलित-सा दिखाई दिया। चरित्र, अनुशासन अथवा अन्य दृष्टि से नहीं, दल के सिद्धान्तों में उसकी आस्था को मैंने छटपटाते हुए पाया। वह गोरखपुर जिले के किसानों में दल का प्रचार करने गया था, तब उसके विचार-परिवर्तन का मुझे संकेत मिला। तुरन्त तार देकर मैंने उसे सिलोगी बुलाया और बोला, "तुम जनता के सामने क्रियात्मक पहलू न रखकर साधु कब से बन गये?"

मेरा उसे साधु घोषित करने का तात्पर्य उसके उन भाषणों की ओर ध्यान आकृष्ट करना था जिनमें उसके विचार विनोबा जी अथवा उन कार्यकर्त्री बेला नाम की एक तरुणी के विचारों से साम्य रखते हुए मह किये गये थे।

राघव बोला, "साधु बनना कोई बुरी बात तो नहीं, डाक्टर साहब

"तो तपस्या करो, पर यहां सिलोगी में नहीं, बद्रीनारायण जा इस आश्रम में कर्मठ देश-भक्तों के लिए स्थान है जो क्रान्ति का सू कर सकें, महात्माओं के लिए नहीं जो प्रवचनों द्वारा आत्मशुद्धि की हैं।"

वह बोला, "पर किसी महान अनुष्ठान के लिए पहले आत

शिविर डाले हुए थी, तो मैंने पाया कि मुझे लेने चार-पांच प्रौढ़ महिलाएं और तरुणियां स्टेशन पर पहुँची हुई थीं।

एक खूबसूरत-सी तरुणी आगे बढ़कर नमस्कार करती हुई बोली, "यदि मुझसे भूल नहीं हो रही तो मैं शायद डा० बड़थ्वाल का स्वागत कर रही हूं ?"

मैं आशीर्वाद देते हुए बोला, "तुम्हारा अनुमान ठीक है। बेला जी तो सकुशल हैं न ?"

वह हँसी और बोली, "वरना आपका आशीर्वाद कैसे प्राप्त करती ?"

"तो तुम्हीं बेला हो ?" मैं आश्चर्य से ठगा हुआ-सा उसकी ओर देखने लग गया।

बेला तरुणी थी। खूबसूरती की भी चर्चा अखबारों में पढ़ी थी, पर इस कदर भोला-सा मुखड़ा और इतनी छोटी-सी आयु उस प्रख्यात भूदान-आन्दोलन नेत्री की होगी, यह मैंने सोचा भी नहीं था। यह लड़की तो पैंतीस-चालीस साल की भी नहीं दिखाई देती थी। न उसमें वह प्रौढ़ता थी और न वह आडम्बर ही, जिसकी थोड़ी-बहुत कल्पना मैंने की थी। यह तो बिल्कुल छोकरी-सी थी—अल्प-वयस्का, जिसमें यौवन का चांचल्य होना चाहिए था अथवा भावुकता का ज्वार। यह कैसे जनता में विश्वास और श्रद्धा पैदा करती होगी !

वह मेरे आश्चर्य को लक्ष्य कर हँस पड़ी थी। सम्भवतः मेरे विचारों की टोह लगा बैठी, तभी तो बोल उठी, "सेविका बन कर यदि गांवों में न आती, तो कैसे आप जैसे महापुरुषों का दर्शन करती ?"

उसके बोलने का ढंग सरल था और उसके शब्दों में उपचार के स्थान पर आत्मीयता थी मानो नेत्री न होकर वह परिवार की बहू-बेटी थी जो मानो युवक संघ के संस्थापक को नहीं, अपितु अपने किसी सम्बन्धी बुजुर्ग को लेने स्टेशन पर आई थी।

मैं बोला, "बेटी ! कब से तुम इस क्षेत्र में पड़ी हो ?"

वह फिर हँसी और बोली, "कोई सात-आठ साल से, पर जैसा आप

सोच रहे हैं, वैसी कोई बात नहीं।"

"मैं क्या सोच रहा हूँ ?"

"यही कि सब कुछ त्याग कर इस क्षेत्र मे कूद पड़ी हूँ।"

"तो क्या यह गलत है ?"

"मैं पारिवारिक मोह से मुक्त नहीं हुई अभी।"

"तुम······यानी तुम्हारे पति······?"

"जी हाँ, और दो बच्चे हैं जो अन्यत्र शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।"

"वाह, फिर यह तपस्या ?"

"आत्मतुष्टि के लिए, डाक्टर साहब !"

मैं फिर उसे देखने लग गया था।

"बेटी ! तुम किसी उच्च परिवार की हो और उच्च शिक्षा-प्राप्त भी ?"

वह फिर हँसी और बोली, "परिवार को क्यों छोटा बताऊँ, पर शिक्षा तो अब आप जैसे विद्वान् के चरणों में बैठकर ही प्राप्त करूँगी।"

मैं उस लड़की से कुछ ही देर में प्रभावित हो गया था। वह मधुर-भाषी और कुलीन लगती थी। कुछ ही मिनटों में उसने मुझ पर अधिकार-सा कर लिया था।

उसके शिविर मे पहुँचा तो आतिथ्य-सत्कार करती हुई वह बोली, "आर० दत्त की अपेक्षा आपने स्वयं ही आकर दर्शन दिये, अवश्य मेरे जन-जाने में किये गये नेक कामों का फल है, वरना जिनके दर्शन दुर्लभ हैं, कैसे मुझे उनका आतिथ्य करने का गौरव प्राप्त होता !"

मैं बोला, "नहीं, बेटी ! यह तुम्हारी प्रतिभा ही मुझे सींच लाई है वैसे ही, जैसे पम्मी दत्त ने मुझे प्रभावित किया था।"

वह हँसी और बोली, "लेकिन मैं आपके साथ नहीं [illegible] सत्य समझिये।"

मैं भी हँस पड़ा था। सोच रहा था, कैसे इसके [illegible] नीति पर जरा साफ-साफ दो बातें करूँ। यही देखने [illegible]

या इस युवती की बातों में जो राघव जैसा प्रगतिशील युवक
लगा था। रात का भोजन ग्रहण कर हम इकट्ठे बैठे, तो मैं बोला,
तुमने स्टेशन पर कहा था कि आत्मतुष्टि के लिए ही तुम इस क्षेत्र
पड़ीं। क्या कुछ स्पष्ट करोगी अपने उस कथन को ?"

वह बोली, "इसमें भी क्या स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, डाक्टर
ब ?"

"क्यों नहीं ?"

"क्या ?"

"यदि आत्मतुष्टि की खोज तुम्हें होती तो तुम गाँवों में न आकर किसी आध्यात्मिक गुरु का आश्रय लेतीं, जो तुम्हारी आत्म-वेदना की जड़ पकड़ कर उसका उपचार करता। महात्मा बुद्ध ने तो सालों वट-वृक्ष के नीचे तपस्या की थी और तब कहीं शान्ति प्राप्त हुई थी उन्हें।"

वह बोली, "तब मार्ग-दर्शन नहीं हुआ था। महात्मा बुद्ध प्रकाश दिखा गये और तत्पश्चात् उसी प्रकाश में गांधी जी शान्ति के उपकरणों का अनुसन्धान कर गये। आत्म-शान्ति अथवा विश्वशान्ति—अब दर्शन के विषय न रह कर क्रियात्मक स्वरूप ग्रहण कर गये हैं। मैं ज्ञान की खोज नहीं कर रही, कर्मों से उत्पन्न सुख-प्राप्ति की अनुभूतियाँ संचित कर रही हूँ।"

"तो यों कहो कि सेवा-भाव लेकर पद-यात्रा कर रही हो ?"

"यही समझिये।"

"लेकिन यह तो किसी भी गली में, किसी भी कूचे में, घर में बैठे सम्पन्न हो सकता था। इतनी लम्बी परिक्रमा क्यों ?"

"भावना का कुछ तो मूल्य हो। सेवा-भावना में भी उत्पादक की अनिवार्यता होनी चाहिए। वरना भावना कुछ काग़ज़ तक स रह सकती है, फलप्रद नहीं हो सकती।"

। हँसता हुआ बोला, "जो चीज पहले अध्यात्म से
ों के सूत्र में बाँध रही हो। तृष्णा,

और पुण्य, सभी के लिए तुम अब कार्यक्रम निर्धारित करोगी ?"

"मीमांसा तो पहले भी उपलब्ध रही है, डाक्टर साहब। उसे ठोस क्रियात्मक स्वरूप दिया है गांधी जी ने।"

मुझे लगा यह अल्पवयस्का तरुणी मुझ जैसे बुजुर्ग के समक्ष आत्म-विश्वास के साथ ऐसे अधिकारपूर्ण शब्दों में बात कर रही थी मानो जैसे मैं बुजुर्ग न होकर कोई बच्चा था और उल्टे वह स्वयं जैसे गांधी जी की व्यापक दृष्टि लेकर धरती पर अवतरित हुई हो। मैं आक्रमण-सा कर उठा। बोला, "जानती हो, मेरी बच्ची, जिस कार्यक्रम को लेकर तुम चली हो, वह आदर्श होते हुए भी व्यावहारिक नहीं है। कैसे तुम फिर विश्वास दिला सकोगी कि तुम्हारा यह कार्यक्रम भले ही कुछ समय तक फलप्रद रहे, अन्त में केवल मीमांसा बनकर ही रह जायगा, ठीक वैसी ही, जैसी आज बौद्ध-दर्शन की गति देखने को मिलती है।"

वह कुछ क्षण मेरे शब्दों का अर्थ लगाती रही और फिर बोली, "आपका तात्पर्य है कि यह कार्यक्रम सत्य पर आधारित नहीं ?"

"यह आदर्श है। केवल, ठीक उसी भांति, जैसे सच बोलना और धर्म पर चलना। यह सोचना कि भविष्य में धनी-वर्ग इन पग-यात्राओं से प्रेरणा पाकर निर्धनों में धन अथवा भूमि वितरण करेगा, कोरी कल्पना है। गांधी जी जैसी आत्माएँ हजारों वर्षों के अन्तर पर जन्म लेती हैं। हजार-दो हजार वर्षों में कभी दस-बीस साल, यह लहर मानव को तरंगित कर दे, सम्भव है, पर वह मानव-प्रकृति में समाविष्ट हो जाये, सत्य नहीं। वरना तुम्हीं बताओ, क्या गांधी पहले पैदा नहीं हुए थे ? क्यों फिर साम्राज्य बने, जमींदारियाँ खड़ी हुई और शोषण चक्र चलता रहा ?"

वह बच्ची अब मेरा मुँह देखने लग गई थी। मुझे विश्वास-सा हो चला कि मेरे एक ही प्रहार पर उसने घुटने टेक दिये। हैं पर फिर जब उसने बोलना शुरू किया तो महसूस हुआ कि वह युद्ध में रत थी।'

वह बोली, "झूठ और सत्य का संघर्ष तो स्वयं भी प्राकृतिक है जीवन और मृत्यु की सम्भाव्यता। मृत्यु के भय से जैसे

प्रति मोह का त्याग नहीं करते, वैसे ही झूठ से भय खाकर सत्य को तिलांजलि देना बुद्धिसंगत तो नहीं ?"

"पर क्यों न चिकित्सा पर ही निर्भर रहना छोड़ हम पथ्य की खोज कर ?"

"क्या पथ्य निर्धारित करते हैं आप ?"

"ऐसी व्यवस्था स्थापित करना जिसमें शोषण की सम्भावना ही समाप्त हो जाये।"

वह हँस पड़ी और बोली, "आपने सीधे क्यों नहीं बताया कि आप साम्यवादी हैं ?"

"मैं साम्यवादी नहीं, समाजवाद में आस्था अवश्य रखता हूँ।"

वह बोली, "मार्क्स द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों पर ही न ?"

"तुम उसमें दोष बताओ।"

"वे हिंसा और क्रान्ति द्वारा राज्य स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं न ?"

"हां, इसलिए कि अन्य उपायों से शोपितों के हाथ में वास्तविक सत्ता नहीं आ सकती। द्रव्य की शक्ति के विरुद्ध उनके प्रयत्नों के फलीभूत होने की कोई सम्भावना नहीं। द्रव्य की दासता सभी स्वीकार करते हैं।"

"तानाशाही सरकार क्या जनता को विचार-स्वातंत्र्य से वंचित नहीं रखती ?"

"जिन विचारों का कोई मूल्य नहीं, उन्हें प्रकट करते रहना क्या बकवास करना नहीं ?"

"लेकिन फिर मस्तिष्क का मन्थन कैसे सम्भव है ? परिमार्जन न हो तो नवीन निष्कर्षों में गतिरोध न आयेगा ?"

"लेकिन मार्क्स ने विचारों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाये, केवल अंकुश की व्यवस्था की है, क्योंकि निरंकुश विचार अनुशासन की उपेक्षा कर आवारापन और विलासिता की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं।"

"और तानाशाही ?"

"नहीं, ठोस कार्यक्रम कहो।"

वह बोली, "चलिये, आपकी बात मान जाती हूँ, पर यह बताइये कि तब अलग-अलग क्षेत्रों में बसने वाले लोगों की क्या स्थिति होगी ? क्षेत्र शब्द का प्रयोग मैं इसलिए कर रही हूँ कि विश्व का राष्ट्रों में विभक्त होना साम्यवाद स्वीकार नहीं करता।"

"ठीक कह रही हो, राष्ट्रीयता अविकसित मानव की संकीर्ण वृत्तियों का परिचायक है। मानव विश्व का नागरिक मात्र है।"

"हां, तो क्या स्थिति होगी—तिब्बत जैसे हिमवर्ती क्षेत्र में रहने वाले लोगों की, और उनकी तुलना में उन लोगों की, जो उपजाऊ भूमि पर निर्वाह करेंगे ?"

"सब स्वतंत्र हो, भेदभाव-रहित जीवन का रसास्वादन करें।"

"लेकिन तब भी पंजाब अथवा उत्तर प्रदेश के निवासी तिब्बती जनता से अधिक वैभवशाली, सम्पन्न और समृद्ध होंगे। क्या वह भेद-भाव पुनः मानव-विचारधारा में प्रकट न होगा, जब कि भेद की स्थिति बनी ही रहेगी ?"

मैंने इतनी दूर की नहीं सोची थी, अतः उत्तर न दे सका।

वह बोली, "शासन तंत्र के अस्तित्व की कल्पना तो उस युग में साम्यवाद स्वीकार नहीं करता, फिर कैसे उस भेद-भाव की समस्या का समाधान होगा ? क्या गंगा की धारा तिब्बत पहुंचा दी जायेगी अथवा हिमालय को चकनाचूर कर दिया जायेगा ? साम्यवाद के प्रादुर्भाव से क्या जलवायु और अन्य भौगोलिक स्थितियों पर प्रभाव पड़ने की आशा है ?"

मैं अवाक् हो चला था और वह खिलखिला कर हंस रही थी। वह आगे बोली, "साम्यवाद की कल्पना अपूर्ण और अव्यावहारिक है, क्योंकि उसमें मानव का अहं भरा हुआ है, प्रकृति की सर्वथा उपेक्षा की गई है। तथ्य यह है कि प्रकृति सर्वशक्तिमान है। इस दुनिया में भली-बुरी सभी चीजें होंगी, क्योंकि प्रकृति दोनों को साथ लेकर आई है। हमारा आदर्श केवल यही होना चाहिए कि बुरी चीज को भली चीज पर हावी होने से

...र परदा डाल रखा है।"

...ह चुप हो मेरे मुँह की ओर देखती रही।

...ं बोला, "जब से तुम्हारी चर्चा समाचार-पत्रों में छिड़ी है, वह भ्रान्त ...विचलित हो उठा है।"

...अब उसने गर्दन झुका ली थी। अन्तर्वेदना से मानो अन्दर-ही-...र वह विकल हो उठी हो। मैं बोला, "वैयक्तिक जीवन में हम अपने ...रवार के सदस्यों के प्रति ईमानदार होते हैं और वफाई बरतते हैं। पर ...ोक-जीवन में इन आधारभूत बातों की उपेक्षा कर जाते हैं। लोक-जीवन ...अपनाकर नेता जनता को परिवार का सदस्य न समझकर उसकी भावना के साथ खिलवाड़ करना शुरू कर देते हैं। बस, यही छल लोक-जीवन को भ्रष्ट कर देता है। इस सत्य को कौन समक्ष रखेगा कि परिवार के मुखिया के रूप में किया गया छल, केवल कुछ एक को हानि पहुँचाता है, पर लोक-नायक द्वारा जनता को छलने पर राष्ट्रीय जीवन स्वयं छलनी हो जाता है। लोक-नायक का इसीलिए, मोह और विकार-रहित होना प्रथम आवश्यकता है। उसकी योग्यता की परख बाद में भी हो सकती है। मुझे लगता है कि राघव के अन्दर लोक-नायक के सभी गुण विद्यमान हैं पर उसके अन्दर अस्थिरता आ गई है। इसीलिए तुमसे मिलने चला आया ताकि उसके रोग का निदान कर उपचार कर सकूँ।"

कहकर मैं अब उसके मुख की ओर देखने लग गया था कि शायद वह कुछ उत्तर दे। पर उसे मैंने सिहरते हुए पाया।

"तुम कुछ बोलोगी नहीं, बेटी?"

वह परेशान-सी दिखाई दी। उसी मानसिक परेशानी में बोली, "क्या... बोलूँ?"

"मैं इतना पूछ गया और तुम अब भी प्रश्न ही कर रही हो?"

वह व्यथित हो बोली, "मैं कुछ नहीं जानती, डाक्टर साहब।"

"वाह, इतनी कुशाग्र बुद्धि और तीक्ष्ण दृष्टि रखती हो। कैसे स...

...कि तुम कुछ नहीं जानतीं?"

मुझे फिर आश्चर्य हो आया कि स्वयं उसने फिर राघव की चर्चा छेड़ दी थी।

मैं बोला, "सुने हैं तुमने दत्त के भाषण ?"

"अखबारों में पढ़ता हूँ।"

"तुम्हारी उससे जान-पहचान कैसे हुई ?"

"जान-पहचान कैसे होती ? अभी तो उनके दर्शन भी नहीं हुए हैं।"

मेरा आश्चर्य और बढ़ गया।

मैं बोला, "राघव को देखा है ?"

वह फिर क्लान्त हो उठी और बड़ी सफाई के साथ उसने चर्चा को मोड़ दे दिया।

वह मुझे विदा करने स्टेशन पर आई तो मैं बोला, "लोक-नायिका के दर्शन करने आया था, पर पुत्री की याद लिये जा रहा हूँ।"

मेरे स्नेह-प्रदर्शन से उसकी आँखें तरल हो उठीं।

मैं डिब्बे के अन्दर बैठ गया तो वह मेरे चरण छूती हुई बोली, "दर्शनों का मोह बनाये रखूंगी।"

मैं गद्गद हो उठा। सिर पर हाथ रख मैंने उसे आशीर्वाद दिया।

वह लौटने को मुड़ी तो असीम संकोच के साथ क्षीण स्वर में बोली, "राघव हैं कहाँ ?"

इस समय यों प्रसंग से बाहर इस प्रश्न ने मुझे कंपायमान कर दिया।

वह मेरी ओर न देख कर, नीचे भूमि की ओर देख रही थी।

मैं द्रवित हो उठा था। बोला, "तुम हमसे अपना तो भेद छुपा गईं, पर जाते समय हमें खोखला कर देना चाहती हो क्या ?"

फीकी हँसी उसके होठों का स्पर्श कर गई।

मैं बोला, "नहीं बताओगी कि राघव से क्या सम्बन्ध थे तुम्हारे ?"

"मैं उनकी पत्नी हूँ"—धीमे से स्वर में वह बोली और फिर उसने मेरी ओर पीठ कर ली। सम्भवतः वह मुझे उन आँसुओं को नहीं दिखाना चाहती थी जो तब अनायास ही उसकी आँखों से चू पड़े थे।

मैंने सुना तो लगा मानो मेरे नीचे की धरती खिसक गई हो।

"हे भगवान्! तो यह रहस्य था तुम दोनों की उस अस्वाभाविक अवस्था का?"

मैं रुक कर गद्गद कण्ठ से बोला, "मेरी बच्ची! जिन्हें तुम आर० दत्त के नाम से जानती हो, वही राघव हैं।"

पलट कर चकाचौंध दृष्टि से उसने मुझे देखा, मानो मेरे कथन पर उसे विश्वास न हुआ।

गाड़ी सीटी देकर चल दी तो मैं बोला, "मिलना चाहोगी तो मुझे लिख देना। तुम आज से मेरी पुत्र-वधू हो।"

उसे शायद मूर्च्छा आने वाली थी पर मैं ठीक से देख नहीं सका क्योंकि गाड़ी तब गति पकड़ चुकी थी।

सिलोगी वापस आकर मैंने राघव से न तो सफर की ही कोई बात की और न बेला की ही। वह मुझे उसी तरह विचलित और विमूढ़-सा दिखाई देता था। बेला के भी मुझे समय-समय पर पत्र प्राप्त होते रहे पर किसी भी पत्र में उसने राघव की चर्चा नहीं की थी। मैं उस मानिनी युवती के दर्द पर आश्चर्यान्वित था।

एक दिन राघव को मैंने पास बुलाया और बोला, "दल के सिद्धान्तों में यदि तुम्हारी आस्था टूट गई है तो स्पष्ट कह दो। मैं तुम्हें मुक्त कर दूंगा, पर मेरे साथ छल मत करो क्योंकि मैं विरोध सहन कर सकता हूँ, छल नहीं।"

वह इस प्रताड़ना से क्षुब्ध और दुःखी हो उठा पर कुछ नहीं बोला।

मैं आगे बोला, "यदि तुम्हें सर्वोदय के सिद्धान्त प्रिय हैं, तो मैं तुम्हें विनोबा जी के पास जाने की अनुमति देता हूँ। जो तुम्हें पसन्द हो करो, पर राजनैतिक जीवन को छल-कपट से दूर रखो।"

वह पहले तो कुछ देर सोचता रहा पर फिर बोला, "मैं सिद्धान्तों से खोखला हो चुका हूँ, डाक्टर साहब! बल्कि सच तो यह है कि पहले भी

सिद्धान्त-विशेष में न कभी मैंने श्रद्धा रखी और न विश्वास ही ा है। केवल अन्दर एक हूक थी जिसको तुष्ट करने के लिए मैं आपके य छल करता रहा। मैंने क्रान्ति लानी चाही, युवकों को संगठित किया र दौरों पर जाकर मुंह से आग बरसा दी···इसलिए नहीं कि राष्ट्र-त्थान के किसी संकल्प से मैं अनुप्राणित था, बल्कि इसलिए कि मेरे अन्दर में स्वयं एक तूफान था। अन्दर से मैं वफादार नहीं रहा हूं। हाँ, आपके प्रति अवश्य दिल में इज्जत थी। पर वह इज्जत भी नेता समझते हुए नहीं, अपितु पिता-समान बुजुर्ग समझते हुए।"

राघव का मुख अन्तर-जोति से विभासित हो उठा। मैं प्रफुल्लित था। मैं बोला, "तुम सर्वोदय का गुणगान करने लगे थे, उसका कारण ?"

"वह भी छल था।"

"समझता हूं। सेवा-भाव नहीं, अपितु बेला का आकर्षण तुम्हें खींचे चला जा रहा था।"

"डाक्टर साहब !" वह आश्चर्य में लगभग चिल्ला-सा उठा।

"सोच रहे होगे कि जिस आग पर तुमने ढेर-सारी मिट्टी डाल दी थी, उसका धुआं कैसे मुझ तक पहुंच गया। यही न ?"

मौन स्वीकृति में उसने गर्दन हिला दी।

मैं बेला के पत्रों का पुलिन्दा उसके हाथ में देता हुआ बोला, "इनमें कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलेगा कि तुम उसके पति हो, पर मैं यह जानता हूं कि तुम्हारे दो बच्चे हैं।"

वह माथा पकड़कर चिन्तामग्न हो गया अथवा आश्चर्य में, प थोड़ी देर के लिए मन का सन्तुलन खो बैठा।

मैं उसकी पीड़ा, वर्षों से दबे हुए सन्ताप का अनुमान लगा कर हो उठा। काफी देर तक वह उसी मुद्रा में रहा और मैं उसे देखत अन्दर-ही-अन्दर क्षोभ में कराहता रहा।

फिर वह मौन भंग कर बोला, "बेला को गांव-गांव में भ क्या आवश्यकता पड़ गई, डाक्टर साहब !"

"यदि वह भी तुमसे इसी प्रकार का प्रश्न करे तो तुम्हारा क्या उत्तर होगा ?"

"वही, जो अभी कुछ देर पहले मैंने आपको दिया।"

"तो समझ लो कि उसी से मिलता-जुलता उत्तर उसका भी होगा।"

वह फिर चुप हो गया।

कुछ मिनट मौन रहकर बोला, "बच्चे उसी के पास रहते हैं क्या ?"

"नहीं, लड़की दिल्ली के एक कालिज में पढ़ रही है और लड़का देहरादून के सैनिक स्कूल में।"

यह सूचना किसी प्रकार वेला से मैं प्राप्त कर लाया था।

मैं बोला, "मालूम पड़ता है, तुम दोनों की स्वतंत्र विचार-धाराएँ विचार-वैमनस्य पैदा कर गईं और फिर स्वाभिमान तुम्हें पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में ले गया। क्या सही है ?"

राघव ने उत्तर नहीं दिया।

मैं बोला, "तुम दोनों प्रतिभा के पुंज हो, तुम्हारे विचार, चिन्तन-शक्ति और दृढ़ चरित्र तुम्हें ऊँचा उठा गये। तुम निःसन्देह आसमान के नक्षत्रों की भाँति निखर उठे हो, धरातल के मामूली जीव नहीं रहे, पर लगता है कि दोनों में एक भारी कमी रह गई, जो दोनों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में गतिरोध उत्पन्न कर गई। तुम चमक उठे हो, पर तुम्हारी यह चमक स्थिर रह पायेगी, विवादास्पद है। जानते हो क्यों ?"

उसने पूछा नहीं, केवल मेरे मुँह की ओर देखने लग गया।

मैं बोला, "इसलिए कि दोनों में छल है, दूसरे के प्रति नहीं, स्वयं अपने प्रति। मिथ्या दम्भ का पोषण कर तुम पार्थक्य को स्थिरता दे रहे हो, पर हृदय दोनों का छटपटा रहा है। बाहर से मौन हो, पर अन्दर तुम्हारे हाहाकार है। विरक्त लगते हुए भी तुम दोनों के अन्दर ढेर सारा मोह है। बस यही छल तुम्हारे विकासोन्मुख होने में बाधक होगा। विलय होना सीखो, राघव !"

वह फिर भी कुछ न बोला तो क्रोधित-सा हो मैंने पूछा, "तुम उससे

...ग क्यों हो गये ?"
"हुआ नहीं, कर दिया गया।"
"अभी भी तुम्हारा यह दम्भ ?"
वह फिर चुप हो गया।
"राघव ! मैं उससे कह आया था कि तुम्हारा पुनर्मिलन सम्भव है। यदि मैं आज्ञा दूं, तो जाओगे उससे मिलने ?"
"कोई लाभ नहीं, डाक्टर साहब।"
"फिर वही उत्तर ? परित्याग करो इस मिथ्या-दम्भ का।"
वह बोला, "वह क्या घर-बार छोड़ चुकी ?"
"नहीं उसका सम्पर्क बना हुआ है। कभी-कभी घर हो आती है।"
"शैलेन्द्र भी आते हैं उससे मिलने ?"
"कौन शैलेन्द्र ?"
वह कुछ रुका और सकुचाता हुआ बोला, "उसके दूसरे पति ?"
मैंने सुना तो लगा कि मानो पहाड़ी की चोटी से गिर कर खन्दक में जा पहुंचा। वेला-जैसी निश्छल युवती और फिर उसका दूसरा पति ! यह कैसे सम्भव हो सकता था ? मैं अविश्वास से उसकी ओर देखने लग गया।
वह बोला, "चलूं अब ?"
सोचते हुए कुछ ठहर कर मैं बोला, "जाओ और आज शाम मेरे साथ प्रस्थान करने के लिए तैयार हो जाओ।"
वह विभ्रान्त हो मेरा मुंह देखने लगा पर उसकी उपेक्षा कर मैं अप... अध्ययन-कक्ष में चला आया था।
वेला को बिना सूचना दिये मैं राघव को लेकर बिहार और बंग... की सीमा पर स्थित उस गांव में पहुंच गया, जहां पद-यात्रा करती... वेला अपना शिविर डाले हुई थी। प्रातः की गाड़ी हमें वहां ले आ... वेला तब शिविर से थोड़े अन्तर पर प्रार्थना-सभा में प्रवचन दे रही... हम सीधे शिविर के अन्दर चले गये। प्रार्थना सभा के विसर्जित हो... वेला शिविर में आई तो चरण-स्पर्श करने को झुकी। पर वह चर...

नहीं कर पाई क्योंकि तभी उसकी दृष्टि राघव पर पड़ गई जो दूसरी ओर शीतलपाटी पर बैठा हुआ था। वेला ने उसे देखा तो उसकी आँखें आश्चर्य में पहले तो चमक उठी पर फिर बन्द हो गई थी। साड़ी के पल्ले से तुरन्त उसने अपना मुंह छिपा लिया। वह विभ्रान्त हो उठी थी मानो जैसे किसी भूकम्प के झटके से भयभीत हो वह संज्ञाहीन हो चली हो। उसके अन्दर कम्पन और मूर्छा का आभास पाकर मैंने तुरन्त उठकर उसे सहारा दिया और उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए उसको संयत करने लगा। कुछ क्षण बाद अपने मुंह को साड़ी के पल्ले मे छुपाती हुई, वह पलट कर दूसरे कक्ष में चली गयी। मैं अन्तर्वेदना में छटपटाता हुआ कुछ देर वैसे ही खड़ा रहा। राघव के मुख पर अचल मौन विराजमान था। उसने न तो कोई प्रतिक्रिया दिखाई और न कोई गति ही की। उस करुण दृश्य को देख कर भी वह द्रवित नहीं हुआ था। दिनचर्या से निवृत्त होकर मैंने और राघव ने कलेवा लिया तो फिर दूसरे कक्ष मे वेला के पास जाकर मैं बोला, "तुमने राघव को निमंत्रण नही दिया, पर मैं उसे ले ही आया।"

उसकी पलकें नीचे को झुक गईं।

"उससे बातें नही करोगी, बेटी?"

वह अब रो पड़ी थी। मुंह को आँचल में ही रखती हुई बोली, "कहाँ से साहस पैदा करूँगी बातें करने का?"

मैं कुछ देर रुक कर सोचता हुआ बोला, "तुम दूसरी शादी कैसे कर बैठी?"

वह घबरा उठी और बोली, "यह बात उन्होंने ही आपको बताई होगी?"

"हाँ, और मेरा अनुमान है कि अवश्य कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई होंगी, जिन पर न तो उसका अधिकार रहा और न तुम्हारा ही।"

वह कुछ न बोली।

"बता दो, बेटी! मैं भी हल्का हो जाऊँगा।"

"नियति के अभिशाप से मैं चारित्रिक सन्तुलन न रख सकी, डाक्टर

ाहव !"

मेरा आश्चर्य कम न हो सका।

"पूरी बातें बताओ, तभी विश्वास कर सकूंगा इस झूठे लांछन पर।"

वह सचेत हुई और बोली, "वह अकेले कमरे में बैठे उकता रहे होंगे।"

"उसके प्रति तुम्हारे इस प्रत्यक्ष मोह को देख कर ही तो मैं अधिक भ्रान्त हूँ। कुछ क्षणों के लिए उससे ध्यान हटाकर तुम मुझे सारा वृत्तान्त सुना दो ताकि तुम दोनों का जीवन मेरे लिए रहस्य न रहे।"

"वह क्या अभी भी सिगरेट पीते हैं ?"

मैं चकित हो उठा। वह बातें मुझसे कर रही थी पर सोचती राघव के प्रति ही जा रही थी। राघव सिगरेट पीता था, यह मुझे तब पहली बार पता चला।

"मैंने तो उसे कभी धूम्रपान करते नहीं देखा।"

"मँगा दूं ? क्योंकि सिगरटों के बिना तो वह पल भर भी नहीं रह पाते हैं।"

"मांस-मदिरा और धूम्रपान ये सभी घृणित हैं। फिर राघव को कै सिगरटों की लत पड़ गई ?"

"तब वह नेता नहीं थे, कलाकार थे, यानी लेखक।"

मैं चुप हो गया। सोचता हुआ बोला, "फिर तुम चर्चा को मो बैठी हो ? कितनी हठी हो तुम। पति से हठ कर शायद दम्भ नि रहीं, पर पिता से हठ कर कौनसा मनोरथ पूरा करोगी ?"

वह पसीज उठी। अपने को पूर्ण संयत कर फिर उसने सारा मुझे सुना दिया और मुझे लगा कि वह अपनी जीवनी नहीं सुना अपितु किसी काल्पनिक उपन्यास की पक्तियाँ पड रही थी।

वह फिर अपनी दिनचर्या में रत हो गई, पर मैं घण्टों त खोया कभी राघव के प्रति सोचता रहा तो कभी वेला के प्रति।

संध्या को उसे प्रार्थना-सभा में जाना था।

वह उस कक्ष में आई जहाँ मैं और राघव विश्राम कर

आँचल के अन्दर मुँह छुपा कर मंद स्वर में बोली, "आप भी चलेंगे, पिता जी ! प्रार्थना-सभा में ?"

"अकेले में ?" प्रश्न कर उठा मैं।

वह सिहर उठी। राघव का नाम, वह होठों पर न ला सकी। पीठ कर ली थी उसने हम दोनों की ओर से।

मैं राघव की ओर मुड़ कर बोला, "चलोगे क्या ?"

"क्या करूँगा जाकर ?"

"हजारों और लाखों की रुया में जनता बेला के प्रवचनों को सुन चुकी है। तुम्हें क्या उसके विचारों को सुनने का मोह नहीं ?"

वह भी अब गर्दन झुकाकर नीचे फर्श की ओर देखने लग गया था। बेला को तभी मैंने तनिक आँचल हटा कर चोरी से राघव की ओर देखते पाया।

मैं दोनों को सुनाता हुआ बोला, "दो बच्चे, जो दुनिया के मोह, लगाव और हट में पुरी तरह जकड़े हुए हैं, आज नेता के रूप में विख्यात हो चले, कितनी महान आश्चर्य की बात है।"

फिर राघव को प्रत्यक्ष सम्बोधित करते हुए मैं बोला, "तुम्हें कहीं दूर खेतों में जाकर मुझसे छुप कर सिगरेट तो नहीं पीनी है ?"

मैं अब ठहाका लगाकर हँसने लगा था, पर राघव आश्चर्य में झेंपता हुआ मुझे देखने लगा। मैंने महसूस किया कि बेला के होठों पर भी तब मृदुल हँसी तरंगित हो चली थी।

हम तीनों अन्त में प्रार्थना-सभा में आकर मंच पर आसीन हो गये।

बेला ने आज छोटा-सा भाषण दिया और फिर मुझे बोलने का निमंत्रण दे बैठी।"

मुझे अपनी स्थिति हास्यास्पद-सी लगी, पर भगवान की इतनी कृपा रही कि बेला ने उपस्थित जन-समुदाय को मेरा और राघव का परिचय नहीं दिया।

मैं तब क्रान्तिकारी-राष्ट्रवादी नेता के स्वरों में :

!"

मेरा आश्चर्य कम न हो सका।

"पूरी बातें बताओ, तभी विश्वास कर सकूंगा इस झूठे लांछन पर।"

वह सचेत हुई और बोली, "वह अकेले कमरे में बैठे उकता रहे होंगे।"

"उसके प्रति तुम्हारे इस प्रत्यक्ष मोह को देख कर ही तो मैं अधिक भ्रान्त हूँ। कुछ क्षणों के लिए उससे ध्यान हटाकर तुम मुझे सारा वृत्तान्त सुना दो ताकि तुम दोनों का जीवन मेरे लिए रहस्य न रहे।"

"वह क्या अभी भी सिगरेट पीते हैं ?"

मैं चकित हो उठा। वह बातें मुझसे कर रही थी पर सोचती राघव के प्रति ही जा रही थी। राघव सिगरेट पींता था, यह मुझे तब पहली बार पता चला।

"मैंने तो उसे कभी धूम्रपान करते नहींदेखा।"

"मंगा दूं ? क्योंकि सिगरटों के बिना तो वह पल भर भी नहीं रह पाते हैं।"

"मांस-मदिरा और धूम्रपान ये सभी घृणित हैं। फिर राघव को कैसे सिगरटों की लत पड़ गई ?"

"तब वह नेता नहीं थे, कलाकार थे, यानी लेखक।"

मैं चुप हो गया। सोचता हुआ बोला, "फिर तुम चर्चा को मोड़ दे बैठी हो ? कितनी हठी हो तुम। पति से हठ कर शायद दम्भ निभाती रहीं, पर पिता से हठ कर कौनसा मनोरथ पूरा करोगी ?"

वह पसीज उठी। अपने को पूर्ण संयत कर फिर उसने सारा वृत्ता मुझे सुना दिया और मुझे लगा कि वह अपनी जीवनी नहीं सुना रही अपितु किसी काल्पनिक उपन्यास की पक्तियां पड रही थी।

वह फिर अपनी दिनचर्या में रत हो गई, पर मैं घण्टों तक खोया कभी राघव के प्रति सोचता रहा तो कभी बेला के प्रति।

संध्या को उसे प्रार्थना-सभा में जाना था।

वह उस कक्ष में आई जहां मैं और राघव विश्राम कर रहे

आँचल के अन्दर मुँह छुपा कर मंद स्वर में बोली, "आप भी चलेंगे, पिता जी ! प्रार्थना-सभा में ?"

"अकेले मैं ?" प्रश्न कर उठा मैं।

वह सिहर उठी। राघव का नाम, वह होंठों पर न ला सकी। पीठ कर ली थी उसने हम दोनों की ओर से।

मैं राघव की ओर मुड़ कर बोला, "चलोगे क्या ?"

"क्या करूँगा जाकर ?"

"हजारों और लाखों की स्या में जनता बेला के प्रवचनों को सुन चुकी है। तुम्हें क्या उसके विचारों को सुनने का मोह नहीं ?"

वह भी अब गर्दन झुकाकर नीचे फर्श की ओर देखने लग गया था।

बेला को तभी मैंने तनिक आँचल हटा कर चोरी से राघव की ओर देखते पाया।

मैं दोनों को सुनाता हुआ बोला, "दो बच्चे, जो दुनिया के मोह, लगाव और हठ में पूरी तरह जकड़े हुए हैं, आज नेता के रूप में विख्यात हो चले, कितनी महान आश्चर्य की बात है।"

फिर राघव को प्रत्यक्ष सम्बोधित करते हुए मैं बोला, "तुम्हें कहीं दूर खेतों में जाकर मुझसे छुप कर सिगरेट तो नहीं पीनी है ?"

मैं अब ठहाका लगाकर हँसने लगा था, पर राघव आश्चर्य में काँपता हुआ मुझे देखने लगा। मैंने महसूस किया कि बेला के होठों पर भी तब मृदुल हँसी तरंगित हो चली थी।

हम तीनों अन्त में प्रार्थना-सभा में आकर मंच पर आसीन हो गये।

बेला ने आज छोटा-सा भाषण दिया और फिर मुझे बोलने का निमन्त्रण दे बैठी।"

मुझे अपनी स्थिति हास्यास्पद-सी लगी, पर भगवान की इतनी कृपा रही कि बेला ने उपस्थित जन-समुदाय को मेरा और राघव का परिचय नहीं दिया।

मैं तब क्रान्तिकारी-राष्ट्रवादी नेता के स्वरों में न बोल कर महात्माओं

वाणी में गीता के श्लोकों की व्याख्या करने लग गया।

वेला पुलकित और गद्गद हो उठी थी। राघव आश्चर्य में मेरी ओर देख रहा था। मैंने अपना प्रवचन समाप्त किया तो वेला मेरे समीप आकर फुसफुसाती हुई बोली, "वह बोलेंगे क्या?" लज्जा उसके नयनों की कोर से झांक रही थी।

"पूछकर देखो न!"—धृष्टतावश मैं बोला।

उसे जन-समुदाय के समक्ष भी बुरी तरह झेंपती हुई महसूस कर मैंने हँसते हुए माइक्रोफोन राघव की ओर घुमाया और बोला, "भाषण करो।"

राघव को पूर्व ही वेला के फुसफुसाहट से निमंत्रण का आभास हो गया था। तुरन्त उसका गम्भीर स्वर माइक पर गूंज उठा।

उसके भाषण में आज आग नहीं थी, मेघ-मल्हार की तान थी। वह सर्वत्र व्याप्त भ्रष्ट-जीवन की झलकियाँ प्रस्तुत नहीं कर रहा था, कर्म और उसके फलों की विवेचना करने में तल्लीन था। आज मानो युवक-सम्राट् आर० दत्त० नहीं बोल रहा था, शंकराचार्य उसकी आत्मा में अवतरित हो, सांख्य और दर्शन का प्रसार कर रहे थे। मैं आश्चर्यचकित था और वेला आनन्दतिरेक से आँसू बहा रही थी।

रात को वेला हमारे कक्ष में आई तो उसके हाथ में दूध का गिलास था। उसे राघव के समक्ष रखती हुई, वह पलट कर मंद स्वर में मुझ बोली, "आप तो दूध नहीं पीते। क्या फल ले आऊँ?"

उसके मुख पर साड़ी का पल्ला चला आ रहा था।

मैं बोला, "तुमसे अभी मुझे बहुत-सी बातें करनी हैं। मैं तुम्हा कक्ष में आ रहा था। वहीं थोड़ा शक्कर और घी ले लूंगा।"

उसके कक्ष में जाकर मैं बोला, "क्या शैलेन्द्र कभी तुमसे मिल हैं?"

"हाँ, साल में कभी एक आध बार।"

"उसके प्रति तुम्हारा व्यवहार कैसा रहता है?"

"... उसी मार्ग पर बढ़ने को प्रेरित करते हैं।"

"राघव को सम्मुख पाकर तुम्हारे अन्दर क्या प्रतिक्रिया हुई है ?"

वह कुछ रुकी और फिर बोली, "घृणा हो जाती है, इस छली जीवन से। अपने निजी जीवन में अशान्ति का बीज बोकर मैं दुनिया को शान्ति का पाठ पढ़ाने चली हूँ। कितनी भारी विडम्बना है यह !"

"लेकिन फिर भी तुम निश्छल हो।"

वह बोली, "न जाने फिर छल की क्या परिभाषा होगी ?"

हम फिर मौन हो गये।

राघव और वेला आमने-सामने होते हुए भी एक-दूसरे से बोल नहीं पाते थे। बड़ी विकट लगी मुझे उनकी वह स्थिति, पर मैं समझ नहीं पा रहा था कि कैसे उस व्यवधान को दूर करूँ जो संकोच की सृष्टि कर गया था। दोनों ही बात करने के लिए मेरा सहारा लेते थे। मेरे माध्यम से ही उनकी क्रिया और प्रतिक्रिया चल रही थी।

मैं राघव से बोला, "तुम यहाँ वेला के पास रहो ! जो कुछ हो गया, वह विधि का विधान था। वेला के साथ रह कर तुम्हें जीवन की पवित्रता महसूस होगी। मेरा अनुष्ठान तुम्हारे बगैर भी पूरा होगा। ऊँचे ध्येय की प्राप्ति मनुष्य के प्रयत्नों की सफलता की केवल संज्ञा मात्र है, उसके पीछे वास्तविक शक्ति समय की होती है। तुम गीला न करना कि साथ छोड़ बैठे।" वह विभ्रान्त था।

मैं बोला, "मैंने तुम्हें मिला दिया। अब प्रस्थान की तयारी करूँगा।"

दोपहर बाद राघव मेरे पास आया और बोला, "डाक्टर साहब ! यहाँ मुझे वेला को देख आनन्द अवश्य प्राप्त होता है क्योंकि वेला मेरे प्राणों में समाई हुई है, पर वेला शैलेन्द्र को आत्मदान कर चुकी है। उसका पुनः मेरे प्रति मोह रखना, उसकी उसी अस्थिरता का परिचय देती है, जिस अस्थिरता के कारण लुढ़क कर, अनिच्छा से वह शैलेन्द्र को वरण कर चुकी। यह मुझे बहुत प्रिय है। मैं उसे नरक में निरन्तर यों लुढ़कते देखना पसन्द नहीं करूँगा। अब मैं निश्चिन्त होकर आपके अनुष्ठान में अपनी सेवाओं का योग दूँगा।"

ने देखा कि बेला दरवाजे पर खड़ी राघव की सब बातें सुन चुकी तभी तो वह सिसकियां भर रही थी।

मैं गुस्से में बोला, "बेला तुलसी का पौधा है। यदि उस पर लांछन ओगे, तो भारी अनिष्ट कर बैठोगे। तुम्हें महसूस होगा कि तुमने उसे र नहीं किया, उसका संघात किया।"

वह क्षोभ और व्यथा में मेरी ओर देखता जा रहा था। बेला दरवाजे की आड़ में वैसे ही खड़ी हमारी बातें सुनती जा रही थी।

मैं राघव से बोला, "और समीप आजाओ और सुनो!"

वह तन्मय हो सुनने लगा और मैंने सारी कहानी सुना दी कि उसे जीवित समझते हुए नहीं, अपितु मृतक ख्याल कर ही बेला ने दूसरी शादी की। मैंने राघव को पूर्ण सन्तुष्ट कर लिया कि जो कुछ भी हुआ, उसमें बेला कहीं पर भी दोषी न थी।

राघव की आंखों में आंसू थे।

वह बोला, "लेकिन अब मैं बेला से केवल सहानुभूति ही रख सकता हूँ...वह शैलेन्द्र की पत्नी है।"

"लेकिन तुम्हारी भी है।"

"कौन विश्वास करेगा इस अद्भुत लीला का?"

"आवश्यकता केवल तुम्हारी है, केवल तुम विश्वास करो।"

"आप क्यों शैलेन्द्र की उपेक्षा कर रहे हैं?"

"उसे भी वास्तविकता को स्वीकार करना पड़ेगा।"

"लेकिन कैसे बेला एक शरीर में दो आत्माओं को स्थान देगी? एक म्यान में दो खड्ग रह सकते हैं, पर एक पत्नी दो पतियों को एक नहीं रख सकती जब तक कि दोनों में से किसी एक के प्रति वह घ करे। मैं दूर हो चुका हूँ...मुझे दूर ही रहने दो, डाक्टर साहब!"

मैं अवाक् हो चला था।

रात को बेला के कक्ष में आया तो मैंने उसे ध्यानमग्न हो ... पाया। मैं बोला, 'द्वार की आड़ में खड़ी होकर तुम स...

चुकी हो। राघव का निष्कर्ष गलत नहीं।"

वह गम्भीर स्वर में बोली, "कुछ भी क्यों न हो, राघव अब यहाँ से नहीं जा सकते।"

"और शैलेन्द्र ?"

"आप कुछ दिन और ठहरिये। समाधान निकल ही आयेगा।"

कुछ दिनों बाद एक सुबह को उसी गाड़ी से, जिस गाड़ी से हम आये थे, एक किशोरी शिविर में आई और वेला के चरण छूती हुई उनसे चिपक गई।

राघव के साथ, मैं भी जिज्ञासु दृष्टि से उस भोली-सी कन्या को देख रहा था जो वेला का आतिथ्य प्राप्त करने अभी-अभी आई थी।

वेला बोली, "यह अतिथि नहीं, इरा है।"

"और ये, माँ ?" मेरी और राघव की ओर इशारा किया इरा ने।

"चरण छुओ, बेबी।"—वेला बोली।

मैं गद्‌गद हो उठा। इरा जब राघव के चरण छूने लगी, तो राघव ने उस बच्ची को प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया।

वेला के आँखों से प्रबल अश्रुधारा छूट पड़ी तो वह अन्दर चली गई।

इरा नाम की वह कोंपल कुम्हलाई हुई और चकित-सी मुझे और राघव को देखती हुई कुछ देर तो वहीं खड़ी रही, पर फिर वह भी अन्दर चली गई।

राघव अभी आँसू बहा रहा था।

अगली सुबह जब मैं उठा तो राघव शिविर के बाहर एकान्त में फफक-फफक कर रो रहा था।

मैं सभभीत-सा हो उसके पास गया तो वह एक कागज मुझे पकड़ा कर शिविर के अन्दर चला गया।

वह राघव के नाम वेला का पत्र था।

रोमांचित हो मैं उसे पढ़ने लगा।

"इरा को मैंने तार देकर बुलाया है, इसीलिए कि तुम्हारी अमानत

हैं सौंप जाऊँ। उसका बी० ए० का यह अन्तिम वर्ष है। उसके अध्ययन व्यवधान न आये, इसका खयाल रखना। पन्द्रह-बीस वर्ष से जिस आत्म-तुष्टि के लिए तरस रही थी, आज उसे प्राप्त कर मैं जा रही हूँ। अपने स्वास्थ्य का भी खयाल करना। नहीं मालूम कि आपने सिगरेट पीनी छोड़ दी है अथवा नहीं, पर यदि पीते हो तो उसे कम करने की चेष्टा अवश्य करना। नैनीताल में आपका सन्दूक छूट गया था जिसमें आपकी लिखी हुई जीवनी पड़ी थी। वह सन्दूक सुरक्षित अवस्था में शिविर में है। इरा उसे पढ़ चुकी है और जब उसे पता लगेगा कि तुम्हीं उसके वह बदकिस्मत पिता हो, जिनकी वह आत्म-कथा है, तो वह तुम्हें पाकर मुझे भूल जायेगी। बिल्कुल आपकी ही तरह भावुक है वह। डाक्टर साहब को प्रणाम!—बेला।"

अब राघव के स्थान पर मैं फफक-फफक कर रो रहा था। बेला शिविर से लोप हो चुकी थी। कुछ दिनों बाद जब मैं सिलोगी पहुँचा तो समाचार-पत्रों में मोटी सुर्खियां पढ़ने को मिलीं। बेला के लोप हो जाने और आर० दत्त० के मत-परिवर्तन पर भिन्न-भिन्न टिप्पणियों से पृष्ठ भरे पड़े थे। फिर वर्षों बाद इरा की शादी पर जब मुझे राघव का निमंत्रण मिला, तो शैलेन्द्र और सुमन से भी मेरी भेंट हो गई, पर बेला को फिर न तो मैं देख पाया और न किसी अन्य को ही उसका पता चला। उसका अभाव न केवल उसके आत्मीय जनों को ही, अपितु राष्ट्र के लोक-जीवन में आज भी अखरता हुआ महसूस होता है।

समाप्त